आदिम-युग और अन्य नाटक

(वैदिक एवं मध्य युग के सात उत्कृष्ट एवं ज्वलन्त नाट्य-चित्र)

लेखक

श्री उदयशंकर भट्ट

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

कश्मीरी गेट

दिल्ली–६

तीसरे संस्करण की भूमिका

हर्ष की बात है कि इस नाटक का तीसरा संस्करण हो रहा है। इस संस्करण में मैंने तीन नाटक और जोड़ दिये हैं। क्रान्तिकारी-विश्वामित्र शशिलेखा और सौदामिनी।

तीनों नाटक तीन सामाजिक संस्कृतियों के चित्र हैं। कायदे से क्रांतिकारी विश्वामित्र नाटक कुमार-सम्भव से पहले आना चाहिए था ताकि वह भी वैदिकयुगीन नाटकों में सम्मिलित हो सकता। यह नाटक भी वैदिक युग की परम्परा में आता है।

विश्वामित्र अपने युग के बड़े विद्रोही पुरुष रहे हैं। उन्होंने आर्यों का दुर्धर्ष विद्रोह सहकर भी आर्यों और अनार्यों का एकीकरण किया। रीति-रिवाज, नियम-संयम, आचार-विचार सब में दो विभिन्न जातियों को मिलाकर निरन्तर होने वाले संघर्ष को शान्त किया। यही नहीं अपने तप और पौरुष से ब्राह्मण, क्षत्रिय की भिन्न परम्परा कायम की। नर-बलि, पशु-बलि का विरोध किया। रूढ़ियों को तोड़ा।

प्रस्तुत नाटक में विश्वामित्र का रूप आज के युग के किसी भी क्रान्तिकारी से कम नहीं है। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से समाज की मर्यादा में एक नवीन चेतना को विकसित किया है और वास्तविक ज्ञान की प्रतिष्ठा की है। वशिष्ठ से उनका संघर्ष कई वर्ष तक चला। स्वयं क्षत्रिय होते हुए उन्होंने तप के द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। इस नाटक में उनका वही क्रान्तिकारी और युगपुरुष का रूप है।

दूसरा नाटक शशिलेखा बौद्धयुग की एक कहानी है। शशिलेखा राजनर्तकी होते हुए भी सच्चरित्र और पावन स्त्री है, किन्तु मानवोचित रागद्वेष से वह मुक्त नहीं है। भिक्षु कौण्डिन्यायन के रूप पर मुग्ध होकर वह उन्हें आत्म-समर्पण करना चाहती है। कौण्डिन्यायन तपस्वी और

आत्मचिंतक हैं वह उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देते हैं। सौन्दर्य-गर्विणी शशिलेखा उनसे बदला लेती है किन्तु बाद में वह वास्तविक आत्म-समर्पण कर देती है, यही इस नाटक की कथा है।

तीसरा नाटक प्रभासतीर्थ पर स्थित भगवान सोमनाथ के मन्दिर की कथा से सम्बद्ध है। मध्य युग से भी नीचे आकर राजकीय शासन के षड्यन्त्रों की कथा इस नाटक में दी गई है। जिसमें भक्ति, प्रेम और पौरुष का सम्मिलित चित्र है।

यह सब नाटक वैदिक युग से लेकर मध्य युग तक के विभिन्न चित्र उपस्थित करते हैं। इसलिए मैं इन नाटकों को एक ही पुस्तक में देने का लोभ संवरण नहीं कर पाया। जहाँ इनसे एक ही संग्रह में इन दोनों कालों की झाँकी मिल सकती है वहाँ पाठकों और दर्शकों को मेरी तत्का-लीन चिन्तन प्रकृति का ज्ञान भी हो सकता है। यह सब नाटक आकाश-वाणी के विभिन्न केन्द्रों से सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुके हैं। इनमें कुछ के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में भी हुए हैं।

मुझे विश्वास है यह नाटक भारतीय संस्कृति और भारतीय आदर्शों को आलोकित करने में सहायक होंगे।

२१ जनवरी, १९५६ लेखक
नागपुर

भूमिका

भागवत के तीसरे स्कन्ध के बीसवें और इक्कीसवें अध्याय में सृष्टि का वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त पुराणों, ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सृष्टि-उत्पत्ति के प्रकरण को भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन किया गया है। वे गाथाएँ एक दूसरे से भिन्न होती हुई भी इस विषय में एकमत हैं कि स्वायंभुव मनु और शतरूपा—मनुष्य-सृष्टि के आदिम स्त्री-पुरुष थे। इससे पूर्व देवताओं, राक्षसों, यक्षों, पिशाचों आदि की सष्टि बनी। इसमें देवताओं को छोड़कर शेष सब पशु और भावी मनुष्य की श्रेणी के जीव थे। इनमें तामसी वृत्तियों का पूर्ण विकास था।

सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों गुण सृष्टि के निर्माण में मूल तत्त्व हैं। इन तीनों के सम्मिश्रण से ही सृष्टि का निर्माण हुआ। सांख्य-दर्शन के रचयिता कपिल ने एक-मात्र अनादि प्रकृति से ही इन तीन गुणों के सम्मिश्रण द्वारा अनन्त सृष्टि का विकास बताया है। वस्तुतः मनुष्य के अतिरिक्त पाशविक सृष्टि तामसी है। मनुष्य पशुता के विकास की चरम परिणति है। इससे यह अर्थ लेना अनुचित होगा कि मनुष्य का विकास पशुत्व की चरम परिणति है। यहाँ केवल इतना ही तात्पर्य है कि विकासोन्मुख पशुत्व से ही मनुष्य का निर्माण हुआ है, जिसमें धीरे-धीरे अहङ्कार के साथ बुद्धि, धृति, क्षमा आदि गुण विकसित हुए। इनके साथ ही आदि मनुष्य में जिज्ञासा, तर्क, विचिकित्सा आदि गुण भी प्रादुर्भूत हुए। इन गुणों की विशेषताओं के कारण ही अन्य पशुओं से मनुष्य में भेद हुआ, ऐसा मेरा विश्वास है। किन्तु ये गुण मनुष्य में इतने धीरे-धीरे आये कि उसकी पशुता मनुष्य जाति में कई वंशों तक बनी रही। उस काल की सीमा का निर्धारण करना विचार-शक्ति से परे है। फिर भी उन गुणों का विकास हुआ अवश्य।

मनुष्य को जो दस इन्द्रियाँ प्रकृति से प्राप्त हुईं वे आदि काल में बहुत ही स्थूल रूप में रही होंगी। उनमें पहली पाँच कर्मेन्द्रियाँ तो यथा नियम अपना काम करती ही होंगी परन्तु ज्ञानेन्द्रियों में अवश्य धीरे-धीरे विकास हुआ होगा। उदाहरणार्थ उस विकास का मूल स्रोत बालक हैं। जिन बालकों को माता-पिता द्वारा उन्नत होने का साधन प्राप्त नहीं होता, उनका विकास ध्यान से देखने पर बड़ा कुतूहलपूर्ण होता है। बालक सब वस्तुओं को, अवस्था पाकर भी बड़े स्थूल रूप में देखता है। एक तरह से मनुष्य की बाल्यावस्था मनुष्य जाति की आदिम अवस्था का कुछ आभास दे सकती है। शुद्ध संस्कारहीन निरवलम्ब बालक के विकास में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। किन्तु आदि काल का मानव भूख, प्यास, नींद के साथ-साथ बालक से एक बात में बढ़ा-चढ़ा रहा होगा, वह है जिज्ञासा और शरीर-सामर्थ्य। बालक में जिज्ञासा उन्नत नहीं होती। वही जिज्ञासा मनुष्य को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रहती है। जिज्ञासा तथा प्राप्ति ये ही दो गुण हैं, जिन्होंने मनुष्य को निरन्तर आगे बढ़ते रहने के लिए प्रेरित किया है। किन्तु इससे पूर्व मनुष्य में एक और गुण का होना अपेक्षित है, वह है यथार्थ दर्शन। सृष्टि को वैसा ही, जैसी कि वह है, देखने की क्षमता का प्रारम्भ मनुष्य जाति के विकास का आदि-स्रोत कहा जा सकता है। इसके साथ ही अपनी अवस्था से मिलाकर उसमें उपयोगिता को ग्रहण करते रहने की चेष्टा का होना भी आवश्यक है।

प्रश्न यह है क्या मनुष्य ने स्वयं बिना किसी की सहायता के खाने, पीने, सोने के अतिरिक्त जीवन के अन्य रूपों को समझा है या किसी की सहायता पाकर वह अपनी पूर्णता की ओर बढ़ा है? इस प्रश्न को मैं दो प्रकार से समझाने की चेष्टा करूँगा। जहाँ तक धार्मिक ग्रंथों का सबन्ध है वहाँ मनुष्य-सृष्टि की उत्पत्ति में सबसे सहायक एक तीसरा जीव या प्राणी भी है। उसे चाहे ईश्वर कहिये या कुछ। उसी ने मनुष्य का हाथ पकड़कर उसे चलना सिखाया, नदी के पास

ले जाकर उसे प्यास शांत करने के लिए पानी पिलाया; और क्षुधा शांत करने के लिए मांस, कंद, मूल, फल खाने की प्रेरणा दी इसके अतिरिक्त उसने पहले ही उसे बहुत-सी बातें सिखा दीं और वह अपने युग में उत्पन्न होते ही समर्थ प्राणी हो गया। धर्मात्मा और नेक, सत्य-असत्य का भेद करने वाला, पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध को जानने वाला भी; किन्तु विकासवादी इसको नहीं मानता। वह मानता है कि अवश्य तृषा शांत करने के लिए धूल, पत्थर, जड़ें, पत्ते, फाँकने, चबाने और खाने के बाद जल के किनारे अचानक पहुँचकर पीने के अनुभव द्वारा ही मनुष्य ने यह निश्चय किया होगा कि 'प्यास लगने पर पानी पीना चाहिए'। इसी तरह भूख लगने पर पानी पीने, पत्थर, धूल, जड़, पत्ते आदि के प्रयोग के बाद फल, फूल खाकर क्षुधा मिटाने का अनुभव हुआ होगा। किन्तु इसमें मनुष्य को कितना समय लगा होगा यह निश्चय रूप से बता सकने की अवस्था में अपने को न पाकर भी मैं कह सकता हूँ कि इस प्रकार के ज्ञान को पाने में मनुष्य को बहुत समय नहीं लगा होगा; क्योंकि प्रकृति के यथार्थ दर्शन तथा स्वयं क्षुधा, तृषा ने मनुष्य को इस समस्या के हल करने में सहायता दी होगी।

(१) आदिम-युग

मैंने इस नाटक में के बन्धन को तोड़कर मनुष्य-सृष्टि के आदि-पुरुष स्वायंभुव मनु और शतरूपा के प्रतीक द्वारा उस समय के जीवन की झाँकी देने की चेष्टा की है। स्वायंभुव मनु और शतरूपा तथा उनके पुत्र-पुत्रियाँ सब वैदिक एवं पौराणिक पात्र हैं। किन्तु उन पात्रों का चारित्रिक विकास, जहाँ तक मैं निर्माण कर सका हूँ, स्वाभाविक है। इन दोनों के सम्मिश्रण में अविश्वास करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। यदि पुराणों में मत्स्य, बाराह, कच्छप अवतारों की कथा के द्वारा मनुष्य के पूर्वजों का इतिहास है तो कोई कारण नहीं कि स्वायंभुव मनु और शतरूपा का वर्णन अतिरञ्जित होते हुए भी मूलतः वास्तविक न हो।

स्वायंभुव का अर्थ है अपने आप उत्पन्न होने वाले का पुत्र। यदि स्वयंभू ब्रह्मा को मान लें तो भी मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। मैंने स्वायंभुव मनु और शतरूपा की संतान का वर्णन श्रीमद्भागवत के आधार पर ही किया है।

प्रायः विद्वान् मानते हैं कि सृष्टि के आदि ग्रंथ ऋग्वेद की संस्कृत से पूर्व एक प्राकृत भाषा थी। उसी से संस्कृत की उत्पत्ति हुई है। उस प्राकृत भाषा का नमूना आजकल उपलब्ध नहीं है। फिर भी उस समय के कुछ शब्द वेदों में मिलते हैं। जिनके प्रकृति-प्रत्यय का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। भाषा का निर्माण मनुष्य-सृष्टि के विकास का महत्त्वपूर्ण अंश है। प्रारम्भ में रूढ़ शब्दों का निर्माण अधिकतर हुआ होगा उसके बाद योग-रूढ़ि और फिर यौगिक। मनुष्य के हृदय में जैसे-जैसे भावों का विकास होता गया वैसे-वैसे उन भावों के लिए शब्द गढ़े गये होंगे। जैसे किसी वस्तु से डर जाने पर मनुष्य मुख फाड़कर जब पीछे को हटा होगा तब उसके ुँह से 'भ' यह अक्षर निकला होगा। बस, भय शब्द की उत्पत्ति का कारण उसका भय से व्याकुल होकर 'घिघियाना' है। इसी तरह किसी वस्तु को लेने के भाव को प्रकट करने में 'ल' का प्रयोग होने के कारण 'लेना' का आविष्कार हुआ होगा। परन्तु सब शब्द इसी प्रकार निर्मित हुए होंगे, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। कुछ शब्द ध्वनि से, कुछ विशेष व्यक्ति के उच्चारण से, कुछ वस्तु-साम्य से, कुछ रूप-साम्य से बने होंगे। उसके बाद शब्द की शक्तियों का विकास होता गया होगा। सबसे अधिक ज्ञान मनुष्य ने वस्तु को देखकर प्राप्त किया है, सुनकर नहीं। सुनना पीछे की बात है; देखना पहले। देखते रहने और उसके द्वारा मनन करने के कारण हमारे यहाँ दर्शनशास्त्रों का निर्माण हुआ है।

आज जिस तरह कलकत्ता, बंबई को देखकर यह कल्पना करना कठिन है कि ये दोनों नगर प्रारम्भ में बहुत ही साधारण गांव थे। वहाँ न बड़े मकान थे, न आजकल जितने महान् साधन; फिर भी एक बात

से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्थान का महत्त्व और उपयोगिता ये दोनों वे नगर प्रारम्भ से ही अपने में लिये हुए थे नहीं तो अन्य नगरों की अपेक्षा वे ही इतने महत्त्वशाली नगर न होते ? इसी तरह मनुष्य का रूप भी है। मनुष्य को जो इन्द्रियाँ प्राप्त हुई प्रकृति द्वारा उनके विकास में मनुष्य की उपयोगिता छिपी थी। आखिर, प्रकृति को ऐसे प्राणी की आवश्यकता हुई जो अपने साथ प्रकृति की उपयोगिता को पहचान सके। नहीं तो प्रकृति के सौन्दर्य का क्या उपयोग होता, प्रकृति के विस्तार का क्या महत्त्व होता ? स्वयं प्रकृति ने मनुष्य का विकास किया है और उसका विकसित रूप समाज, धर्म, राजनीति, संसार के आविष्कारों के रूप में हमारे सामने है। जो प्रकृति नहीं कर सकती थी वह मनुष्य ने किया। किन्तु किया उसने प्रकृति के उपकरणों और अपनी बुद्धि से ही। वह जहाँ समर्थ रहा वहां उसने 'अहं' द्वारा अपने को ऊँचा उठाया ! जहां वह निर्बल रहा वहां उसने ईश्वर, धर्म की कल्पनाएँ कीं। जैसे प्रकृति में सम्पूर्णता नहीं है वैसे ही मनुष्य में भी पूर्णता का अभाव है। वह अभाव ही उसके विकास की सीढ़ी है। कह नहीं सकते जिस दिन वह पूर्ण हो जायगा उस दिन वह रहेगा भी या नहीं। अभाव जहां मनुष्य का दुःख है वहां वह उसके विकास का प्रयत्न भी है। असमर्थता से भय, अहंकार; सामर्थ्य में ठेस लगने से क्रोध; इच्छा से काम और लोभ उत्पन्न हुए हैं। इच्छा का रूप-वैविध्य ही सृष्टि का वैविध्य है।

इस नाटक के लिखने में एक बात सहायक सिद्ध हुई है। एक बार, बहुत दिनों की बात है—मध्यान्ह का समय था, गरमी के दिन, ऊपर 'सीलिंग फेन' तेज़ी से चल रहा था। मेरी आंख लग गई। थोड़ी देर बाद जब सोकर उठा तो देखा कि मेरा शरीर एकबारगी निष्क्रिय हो गया है। हाथ उठाता तो उठते न थे, पैरों को जैसे किसी ने खाट के पायों से बांध दिया हो।

ज़बान रुक गई थी। एक तरह से सब कर्मेन्द्रियां निस्तब्ध हो गई

थीं। मैं उस समय देख रहा था, किन्तु बोल नहीं सकता था। पांच या सात मिनट की उस अवस्था में मैंने जाना कि यही मृत्यु की दशा है किन्तु उसके बाद मुझे मृत्यु नहीं, जीवन मिला और उस अवस्था में मेरी स्मृति-शक्ति धीरे-धीरे जाग्रत हुई। एक-एक करके सब कुछ सामने आया। उस अवस्था का कुछ-कुछ मिलान मैंने आदिम-युग के इन प्राणियों से किया है। अंतर केवल इतना ही है कि इनमें सक्रियता थी, किन्तु वाणी नहीं थी किन्तु उसके मूल साधन थे। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है प्रकृति ने मनुष्य को बोलने के लिए बाध्य किया है। उसके रूप-सौन्दर्य ने, भय ने आदिम प्राणियों को सब कुछ सिखाया होगा।

ब्रह्मा को मैंने इस नाटक में छाया रूप में रखा है, प्रत्यक्ष नहीं! चिंतन का ही मनुष्य में महत्त्व है। जो कुछ बाहर व्यक्ति देखता है वह प्रत्यक्ष दर्शन मस्तिष्क के ज्ञान-तंतुओं से जाकर टकराता है। ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही उसे यथार्थ रूप से जानने के लिए बाध्य करती है। वह एक वस्तु से दूसरी का भेद करता है। बस, यह भेद-बुद्धि विवेचना है। विवेचना सदा दो वस्तुओं में होती है। वह विवेचना ही मनुष्यता का मूल है। विवेचना-बुद्धि से विकास प्रारम्भ होता है। विवेचना ही पुरुष और स्त्री का चिंतन है। इसी चिंतन के आधार पर मानव का विकास होता है। इसी लिए पहला दृश्य एक तरह से पुरुष और स्त्री की विचिकित्सा को लेकर चला है। सचमुच, वह समय कितना अद्भुत रहा होगा जब पहली बार पुरुष ने स्त्री की ओर और स्त्री ने पुरुष की ओर देखा होगा। वही संसार के निर्माण का प्रथम ब्राह्म मुहूर्त कहना चाहिए। वैसे साधारणतया पशु भी एक दूसरे को देखते हैं किन्तु उनके सामने सिवा जड़ दर्शन के और कुछ नहीं होता? यौन-वृत्तियों का विकास भी उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता। किन्तु स्त्री और पुरुष के प्रथम दर्शन में तो यौन-वृत्ति पीछे आती है बाह्य एवं प्रत्यक्ष भेद ही उनके सोचने का कारण बन जाता है।

इसीलिए आदिम स्त्री-पुरुष के सामने एक दूसरे का अचानक आ जाना कितना महत्त्वपूर्ण है, इसको केवल कल्पना से ही समझा जा सकता है। इसीलिए ब्रह्मा स्वायंभुव मनु और शतरूपा की चिन्तना शक्ति है। जिसके लिए अनेकों वर्ष लगे होंगे। मैंने 'समय की एकता' की रक्षा के लिए ब्रह्मा की कल्पना की है। इसके बिना कदाचित् पात्रों का निर्वाह भी न हो सकता।

(२) प्रथम-विवाह

प्रथम विवाह भी एक वैदिक कल्पना है। प्रारम्भ में जब आर्य एक भ्रमण-शील जाति थी। न उनमें कोई सामाजिक आचार-विचार थे न बन्धन। कदाचित् उस समय वेदों की ऋचाओं का गायन प्रारम्भ नहीं हुआ था। और यदि उत्तरीय आर्य जाति के सम्बन्ध में अनु-संधान करें तो कहना होगा कि आर्य लोग पहाड़ों से उतरकर इस प्रदेश में आ रहे थे। प्रथम-विवाह उसी समय का एक चित्र है। काद्र-वेय—काद्रवेयी का चित्रण संसार के सबसे भोले, निरीह, सच्चे मनुष्य का चित्र है। वरुण पंचजन उस समय के परम विद्वान आर्य थे, जिन्होंने समाज में मर्यादा की स्थापना की। वेदों के यम-यमी सूक्त मेरी इस कल्पना के आधारभूत चित्र माने जा सकते हैं।

(३) मनु और मानव

जल-प्रलय के पश्चात् जब मनुष्य सृष्टि समाप्त-प्राय हो चली थी उसके बहुत दिनों बाद की कथा इस नाटक में है। मनु, वैवस्वत मनु ही हमारी सृष्टि-नाटक की सामाजिक रंगभूमि के प्रधान पात्र हैं। पुराणों में अब तक की सारी सृष्टि को चौदह मन्वंतरों में बाँटा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वायंभुव मनु से लेकर वैवस्वत मनु तक का काल अब तक बीता है। पुराणों में विस्तार से इसका वर्णन है।

मेरा ऐसा विश्वास है कि मनु नाम ऐसे व्यक्ति विशेष का है

जिसका प्रभाव उस युग पर पूर्णरूप से रहता है। जैसे दिन के कहने से उषा, मध्याह्न और सन्ध्या तीनों कालों का ज्ञान होता है, वर्ष कहने से बारह मासों, तीन सौ पैंसठ दिनों, छहों ऋतुओं के आवागमन का बोध होता है। इसी प्रकार एक मनु के युग का अर्थ है एक प्रकार के ज्ञान-प्रसार, विशेष सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व्यवस्था का प्रचलन। उसके साथ रूढ़ियाँ, संस्कार सब बातों को समझ लेना चाहिए। इसीलिए वैवस्वत मनु से तात्पर्य इक्ष्वाकु और बुध के वंश से लेकर आज तक की आर्य-मर्यादा, रहन-सहन, नीति-रीति, आचार-विचार सभी हैं। वैवस्वत मनु इस युग के प्रथम निर्माता कहे जा सकते हैं। मनु की समाज-व्यवस्था का प्रभाव केवल भारतवर्ष पर ही नहीं पड़ा; भारत के बाहर बैबीलोनियन कैल्डियन, यहूदी, चीनी, यूनानी, ईरानी तथा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुञ्जों में बसने वाली अन्य जातियों पर भी पड़ा है। यज्ञ और अग्नि के प्रथम आविष्कारक मनु का प्रभाव, उनके निर्मित समाज-विधान अब भी यत्र-तत्र प्रचलित हैं और राज्य-निर्माण, राजा की उत्पत्ति, उसके अधिकार तो स्पष्ट ही भारत में ही नहीं, अपितु संसार-भर में मनु के निर्दिष्ट मार्ग पर ही हुए हैं।

इन मनु को उत्पन्न हुए कितना समय बीता, यह नहीं कहा जा सकता। आज के ऐतिहासिकों में जहाँ स्वयं इतने भूत में जाने की क्षमता नहीं है वहाँ पुराणों के पीछे चलने में भी अपने को वे असमर्थ पाते हैं। यह हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि हम अनुश्रुतियों, गाथाओं में बिखरे हुए अपने इस महान् व्यक्ति को ज़रा भी नहीं पहचान पाये, और उनके द्वारा परम्परागत प्रकाश की रेखाएँ ढूँढ़ने में असमर्थ रहे हैं। यह दुःख उस समय तो और भी अधिक बढ़ जाता है जब हम पाश्चात्य ऐनकों से देखकर ही अपने व्यक्तियों का मूल्य आंकते या उन्हें 'रिजेक्ट' कर देते हैं। मनु तो बहुत दूर की बात है हम इतिहास के मध्याह्न-काल में उगने वाले कई महान् नक्षत्रों का प्रकाश भी स्वीकार नहीं कर पाते।

मनु, इसीलिए इतिहास द्वारा पूर्णतया स्वीकार न किये जाने पर भी

भारतीय गगन के बहुत ही देदीप्यमान नक्षत्र हैं। जिनके प्रकाश से अब तक सम्पूर्ण आर्य संस्कृति आलोकित होती रही है। अतएव मनु के जन्म-सम्वत् को खोजने की मैं आवश्यकता भी नहीं समझता। मेरा काम तो चित्रकार की तरह उस काल का सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करना है जिस समय मानव-जाति अज्ञान की रात्रि के ब्रह्म मुहुर्त्त में अँगड़ाइयां ले रही थी। अपने सामने चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा देखकर न जाने क्या सोच रही थी कि इतने में कुहरे को चीर-कर सुदूरपूर्व से ज्ञान की लाली लिये आत्म-चिन्तन के प्रकाश के साथ बालरवि मनु का उदय हुआ।

निश्चय ही वह ऋग्वेद की रचना का काल था। मनु, इडा, श्रद्धा, अत्रि, वशिष्ठ, भृगु, विश्वामित्र आदि ऋषि तथा ऋषि-कन्याएँ, मन्त्र-दर्शन कर रही थीं, या कर चुकी थीं। जहां उनके सम्मुख दिन और रात का, शुक्ल और कृष्णपक्ष का, वसन्त एवं शरद ऋतु का, नदियों, पहाड़ों, मैदानों, पुष्पों और पल्लवों का सौन्दर्य उन्हें आप्लावित कर रहा था वहां दस्युओं, दानवों का उपद्रव भी उन्हें चैन से नहीं बैठने देता था। इसके लिए उन्हें सदा सतर्क, सचेष्ट और गोत्र बनाकर रहना पड़ता था जिससे शत्रु के आक्रमण से वे अपनी रक्षा कर सकें।

उन बिखरे हुए आर्यों को संगठित करने का श्रेय इस नाटक के प्रधान पात्र वैवस्वत मनु को है। मनु ने अपनी तीक्ष्ण एवं विशाल, सुदूरगामी दृष्टि से मानव-मात्र के भविष्य को देखा उसके लिए व्यवस्था की। उस व्यवस्था से सम्पूर्ण एशिया प्रकाशित हो उठा। ऐसे थे वैव-स्वत मनु ?

इडा उनकी कन्या थी। वेदों में इडा का अर्थ है—बुद्धि। मनु को प्रेरणा देने वाली यही कन्या थी। उसी बुद्धि ने स्त्री रूप में स्त्रियों की आवश्यकताओं को और पुरुष रूप में पुरुषों के पुरुषार्थ को पहचाना। जिस प्रकार मंडन मिश्र की पत्नी से पराजित ब्रह्मचारी शंकर को यौवन के सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग-बल से राजा के शरीर में

प्रवेश करना पड़ा था। रूपक होते हुए भी कौन कह सकता है कि इडा के वे दोनों रूप प्रकृति के विरुद्ध थे? शेष पात्र सब अपनी जगह जैसे हैं वैसे ही उन्हें समझना चाहिए।

एक बात और—मनु के पुत्र इक्ष्वाकु से सूर्यवंश और बुध के संयोग से इडा के द्वारा चन्द्रवंश चला, जो आज तक भारत में प्रचलित हैं। मनु ने वर्ण-विभाग किये हैं। वे केवल समाज की व्यवस्था चलाने के लिए, धर्म और नीति के विस्तार के लिए। इसीलिए पाठक देखेंगे मनु के दश पुत्रों में आर्य-जाति के पुनः संगटन के समय कुछ पुत्र ब्राह्मण बन गये और कुछ क्षत्रिय बनकर राज्य-विस्तार करने लगे।

मनु एक प्रकार से बुद्धिवादी थे। यज्ञ की महत्ता आर्य-जाति को गठित करने के लिए उन्होंने उस समय के आर्यों को सुझाई। नित्य, मित्तिक यज्ञों के विधान किये। यज्ञकर्ताओं, यजमानों को यज्ञ के लिए प्रोत्साहित किया। प्रजा के दशांश द्वारा राज्य की नींव डाली। उस समय नित्य नये होने वाले दस्युओं के उपद्रवों को रोका आदि-आदि।

मनु के सम्बन्ध में एक बात और समझ लेना आवश्यक है, वह यह कि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के द्रष्टा मनु हैं। शतपथ ब्राह्मण, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण आदि सभी ग्रंथों में मनु के सम्बन्ध में यत्र-तत्र बहुत बातें बिखरी हुई मिलती हैं। मैंने प्रयत्न किया है कि उन सबको एकत्र करके एक ढङ्ग से सजाकर पाठकों के सामने रख दूँ, किन्तु नाटक-लेखक होने के नाते इस महान् चरित्र को नाटक का प्रधान पात्र बनाने का मैं लोभ संवरण नहीं कर सका।

(४) कुमार-सम्भव

कविवर कालिदास के कुमार-सम्भव लिखने के समय की एक छोटी-सी घटना है कि कवि को पार्वती के शृङ्गार-वर्णन करने के कारण शाप मिला। इस कारण वे इस महान् काव्य को पूरा नहीं कर पाये।

विद्वानों का विचार है कि चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के उत्पन्न

होने के उपलक्ष में कवि ने इस ग्रंथ की रचना की थी और वह काव्य कुमार को ही भेंट किया गया।

मैंने इसी आधार पर एकांकी नाटक की रचना की है। इसमें प्रसंग-वश, न चाहते हुए भी देवता पात्र बन गये हैं।

यदि इस नाटक के चरित्रों से मेरे देश की संस्कृति का कुछ भी ज्ञान पाठक एवं दर्शकों को प्राप्त हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। इसके साथ ही इस नाटक के चरित्रों में जो त्रुटि रह गई है वह मेरी अक्षमता है, पात्र तो एक-से-एक महान् हैं।

लेखक

सूची

१

आदिम-युग

पहला दृश्य

(प्रागैतिहासिक काल)

[पहला दृश्य केवल नाटक की भौगोलिक स्थिति दिखलाने के लिए ही लिखा गया है। दृश्य बदलते जायँगे और नेपथ्य से कोई इसका वर्णन करता रहेगा]

पूर्व की ओर हिमालय की तलहटी के तीनों ओर अपार समुद्र लहरा रहा है। लहरें उछल-उछल कर समुद्र और आकाश को एक बना रही हैं। दूर तक नीला जल और नीलाकाश दिखाई दे रहे हैं। और ऐसा दीख पड़ता है कि आगे जाकर समुद्र और आकाश एकाकार हो उठे हैं। पश्चिम की तरफ छिपने वाले सूर्य की लाली समुद्र की उत्ताल तरंगों में रोली की बोरियाँ डालकर उन्हें कहीं लाल, कहीं पीला, कहीं बिलकुल सफेद, कहीं नीला बना रही हैं। मानो सहस्त्रों इन्द्र-धनुष किसी ने समुद्र में जमा कर रक्खे हैं। प्रातःकाल सूर्योदय के समय पहाड़ों पर जमी बर्फ कहीं आग की तरह पीली और लाल हो उठी है। वृक्षों, लताओं से छन-छन कर धूप श्वेत, कबुर, पीत रंग भर रही है। कभी-कभी दोपहर को, जब सूर्य ऊपर आ जाता है तब सब कुछ चमकने-सा लगता है। बरसात में मूसलाधार पानी की धारें ऐसी देख पड़ती हैं मानो समुद्र और आकाश को किसी ने मोटी, सफेद सूत की रस्सियों से बाँध दिया है और हिमालय के ऊपर बर्फ पड़ने से ऐसा लगता है मानो सब जगत हिममय हो गया है। चाँदनी रात में तो बर्फ, पर्वत, समुद्र, आकाश बिलकुल सफेद हो जाते हैं। मानो संसार-भर में किसी ने दूध-

ही दूध या बर्फ के कण उँडेल दिये हों या स्फटिक की पतली चादर बिछा दी हो। कृष्ण पक्ष की रात में आकाश की कुछ तारिकाओं को छोड़कर किसी विराट तिमिर ने विश्व का ग्रास कर लिया है। 'छप्-छप्' की घनघोर और हृदय-विदारक ध्वनि में वह कालापन और भी उद्बुद्ध, चेतन तथा जागरूक हो उठता है। मानो मृत्यु के मुख में जाते हुए विश्व के सन्मुख कोई अनन्त अंधकार महानाश-सा मुख फैलाये बढ़ा आ रहा है। उसने इस समस्त प्रत्यक्ष को अपने काले जबड़ों में दबा लिया है। उस समय तारे आकाश में आशा की तरह मध्मम ज्योति-कणों को लेकर उसे स्थिरता की सान्त्वना देने निकले हों।

पूर्व की ओर गन्धक, लाख और चपड़े की तह जमे पहाड़ों पर थोड़ी छिदरी, भूरी घास उग रही है। वृक्षों में केवल बट, पीपल, सागोन, अर्जुन, साखू, चुनार ही उग सके हैं, जो बेढंगी तरह से इधर-उधर निस्तब्ध खड़े हैं; जिनमें कहीं-कहीं कोपलें फूट रही हैं। कहीं-कहीं पत्ते भी निकल आए हैं। पौधों में धतूरे और कहीं-कहीं बेल भी दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं ठंडे और गरम पानी के झरने भी पहाड़ों से बह रहे हैं। दूर तक लम्बी उस तलहटी में, किनारे समुद्र की लहरों से छप्-छप करते रहते हैं, कहीं विचित्र ढंग के साँप और मगरों के रेंगने के चिह्न भी दिखाई दे जाते हैं। कभी कोई पक्षी भी इधर-उधर चहकते सुनाई पड़ते हैं। ये पक्षी देखने में कुछ अजीब और महाकाय दिखाई पड़ते हैं। कभी-कभी कोई विशालकाय जलचर जल से निकलकर जमीन पर रेंगता है और थोड़ा-सा आकाश में उड़ने का यत्न करता है फिर हारकर उदधि में समा जाता है। इधर समुद्र में ऊँची लहरों के साथ साठ-सत्तर फुट का कोई जन्तु उछलकर फिर पानी की सतह पर तैरने लगता है और लहरों के वक्षःस्थल को चीरकर पानी में मग्न हो जाता है। पहाड़ों के समान पानी की लहरें जब किनारे से आकर टकराती हैं तब उस गम्भीर गर्जन से, उस प्रखर आक्रमण से तट के प्राण काँप उठते हैं। ऐसा ज्ञात होता है मानो यह सबल उदधि अपनी आकाश-

चुम्बी विशाल लहरों से आकाश में छेद करने वाले पहाड़ों को उनके शिखरों के साथ एक ही लहर में निगल जायगा। और हारकर लौटते हुए तो मानो उसके क्रोध का वेग सहस्रगुना उग्र हो उठता है।

इसी समय एकाएक दिखाई पड़ता है कि पूर्व की ओर एक पहाड़ की चोटी से धुआँ निकल रहा है। वह धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और सारे प्रदेश में छा जाता है। बड़ी-बड़ी छिपकलियाँ जिनका आकार ६० और १०० गज के लगभग है, उस धुएँ से छटपटाने लगती हैं। हाथी बड़ी शीघ्रता से जंगलों से भागने लगते हैं। उनमें से कुछ शीघ्रता से भागने के कारण झाड़ियों में उलझ भी गये हैं। फिर भी बलपूर्वक लताओं और झाड़ियों को चीरकर अनिर्दिष्ट दिशाओं में वृक्षों को गिराकर भाग रहे हैं। होते-होते धुएँ का वेग इतना उग्र हो उठता है कि एक बार ही अँधेरा-सा छा जाता है। उस समय चिंघाड़, चीत्कार की ध्वनि ही केवल सुनाई पड़ती है और वेग के साथ वह पहाड़ फूटने लगता है। भूकम्प होता है। पहाड़ टकराने और वृक्ष टूटने लगते हैं। झरने बहने बन्द हो जाते हैं और कहीं नदी की तरह बहने भी लगते हैं। कहीं समतल भूमि में खाई-खन्दक दीखने लगते हैं।

गड़गड़ की ध्वनि से उस प्रदेश की भयंकरता और भी बढ़ जाती है। भूधर से गन्धक की नदी-सी बहने लगती है, जिसमें बहुत सी छिपकलियाँ और हाथी बहते हुए दिखाई पड़ते हैं। समुद्र तक बहकर जाते हुए उस गन्धक नद का दृश्य और भी भयानक हो उठता है। कहीं-कहीं दीख पड़ता है कि छिपकलियाँ पहाड़ों के टकराने तथा उनमें दरारें हो जाने के कारण बीच में फँस गई हैं। उस समय अपने निकलने के लिए वे जो बल-प्रदर्शन करती हैं उसे देखकर तो प्राण काँप उठते हैं। कोलाहल इतना अधिक बढ़ जाता है कि उससे प्रलय की सम्भावना दीख पड़ने लगती है।

उसी अंधकार में चलते हुए दो मानवाकृति प्राणी दिखाई देते हैं। और दौड़ते हुए एक दूसरे से टकरा जाते हैं। दोनों आँखें फाड़कर एक दूसरे को

देखते हैं पर कुछ दीखता नहीं है। धीरे-धीरे प्रकाश हो जाता है। उन्हें मालूम होता है, जहाँ वे आकर टकराये हैं, वहाँ पहाड़ की तराई में एक झरना बह रहा है। अपेक्षाकृत घास भी अधिक है। कुछ फूलों के वृक्ष हैं। झरने के पास सिटपिटाया-सा चमरी मृग का एक जोड़ा बैठा है। दोनों एक दूसरे को देखकर आश्चर्य, भय, जिज्ञासा से विभोर हो उठते हैं। मानों संसार में आज कोई नई, अनहोनी, असंभाव्य बात वे देख रहे हैं। इसी समय एक नीलगाय आती है और झरने के पास आकर बैठ जाती है। चिपककर बैठे हुए लँगूर भी कभी-कभी किलकारियाँ भरने लगते हैं। बहुत देर तक दोनों के एक दूसरे को देखने के बाद पुरुष नीलगाय को सामने देखकर उसे पकड़ने दौड़ता है। गाय सहम जाती है और पुरुष उसे पकड़ लेता है। स्त्री पुरुष की ओर कनखियों से देखती हुई चमरी के ऊपर हाथ फेरती है। हाथ फेरने से मृगी के शरीर के बालों में फुरफुरी हो उठती है। वह पहले कई बार बिदककर हट जाने पर भी स्त्री की ओर देखकर आँखें बन्द कर लेती है।

पुरुष के शरीर पर बड़े-बड़े रोंगटे, गोरा रंग, बिखरे हुए घूँघरवाले सिर के बाल, कम चौड़ा माथा, बड़ी-बड़ी और लाल आँखें, लम्बी नाक, मूँछों की जगह रेखें फूट रही हैं। पतले होठ, लम्बा मुख, बलिष्ठ बाहु, सुता हुआ गठीला शरीर, कभी चंचल, कभी स्थिर, कभी क्रोधयुक्त किन्तु निर्भय पुरुष की आकृति दिखाई देती है। नाभि से नीचे और घुटने से ऊपर तक का भाग वृक्ष की छालों से ढँका हुआ है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री के शरीर पर थोड़े रोंगटे, गोल शरीर, पीठ तक लटकते बेतरतीब बाल, जिनमें गुलफटें पड़ी हैं। माथा अपेक्षाकृत छोटा, आँखें श्वेत और मादक, बड़ी-बड़ी मानों कूटकर भरे हुए स्फटिक के दो कमल हों। भौंहें तनी हुईं, कुछ लाली लिये कपोल, नाक लम्बी और उसकी नोंक ओठ की तरफ झुकी हुई। पतले और लाल ओठ, छोटी कतारवाली चमकती दन्त-पंक्ति, हँसता हुआ चेहरा, गोल बाहु, लम्बी और पतली उँगलियाँ—जिनमें नाखून बढ़ रहे हैं। कमर से घुटने तक वृक्षों की छाल

उसी को पतली रस्सी से बाँधे हुए तथा मिट्टी से सने हुए सुघड़ पैर।

स्त्री पुरुष को गाय पकड़कर लाते देख चमरी मृग की तरफ देखती हुई भी कनखियों से पुरुष को देखती रहती है। उसकी आँखों में भय, जिज्ञासा, कुतूहल का भाव भर जाता है। स्त्री को देखकर पुरुष को पहले अभिमान, फिर आश्चर्य, फिर उत्सुकता होती है। वह अपने शरीर को देखकर नारी के अंगों को देखता है। स्त्री भी उत्सुकता से अपने अंगों को देखकर पुरुष के अंगों से अपना मिलान करती है। पुरुष झपटकर मुँह से झरने का पानी पीने लगता है और अपना अंग भी पानी के प्रतिबिम्ब में देखता है, फिर स्त्री की ओर देखता है। उत्सुकता से फिर समता करते हुए पानी में अपनी छाया देखता है। स्त्री भी वही क्रिया करती है। फिर पशुओं की ओर देखती है। एकाएक पुरुष की ओर बढ़ती है, फिर ठहर जाती है तथा पास ही मृग के समीप जाकर उसके शरीर पर हाथ फेरती है। उस अवस्था में भी उसका ध्यान नर की ओर ही रहता है। इसी बीच नर नारी के पास आकर खड़ा हो जाता है; और ध्यान से नारी के अंग देखने लगता है। मृग का जोड़ा नर को पास आया जान भागने लगता है। नारी जो पहले मुस्करा रही थी सकुचा जाती है। तथा एक वृक्ष के तने से सटकर खड़ी हो जाती है और नर की ओर देखने लगती है। मृग को बढ़ता देखकर उसे पकड़ने के लिए बढ़ती है और आँखों से ओझल हो जाती है। थोड़ी देर में झरने से दूर टीले पर दिखाई देती है। नर इसी बीच पहले तो उसे ढूँढ़ता है फिर एकाएक 'आ' 'आ' की आवाज करता है। स्त्री टीले पर से मुस्कराती है। नर उधर ही संकेत करता है। एक बड़ा पशु नारी की ओर बढ़ता है। नर उसे देखकर हाथ से संकेत और मुँह से 'ई-ई' करता है। नारी नर के संकेत में उसको देखती है। वह कुछ सकपकाकर स्तब्ध-सी रह जाती है। जब पशु नारी के पास आकर मुँह फाड़ता है तब वह डर जाती है। पशु गुर्राकर झट से नारी को दबोच लेता है। नारी 'हैं-हैं' करके उसे पीछे ढकेलती है, पर नीचे एक दम ढलान होने के कारण किनारे पर

विवश-सी खड़ी होकर नर की ओर प्रार्थना की दृष्टि से देखती है। पशु पंजों से उसे दबाकर गिरा देता है। नारी क्रोध में पशु को पीछे हटाती है पर हटा नहीं पाती। नर पहले तो अट्टहास करके हँसता है, फिर ध्यान से देखता है कि नारी संघर्ष से धीरे-धीरे थक रही है। और चुप-सी हो गई है। तब वह पशु की तरफ झपटता है। पास जाकर उस से लड़ने लगता है। नारी, जो अब तक थकी हुई और पंजों की खरोंच से मूर्च्छित-सी हो गई थी, त्राण प्राप्त करके नर और उस पशु का युद्ध देखती है।

जब वह पुरुष को पीछे ढकेल देता है तब वह 'हू हू' करके चिल्लाती है और जब पुरुष उस पशु को गिरा देता है तब ताली बजाकर अट्टहास करती है। निरन्तर युद्ध होते रहने के कारण सिंह थक जाता है और एकबारगी छलाँग मारकर आँखों से ओझल हो जाता है। खून के खरोंच पोंछकर हाँफता हुआ पुरुष विजयी की भाँति उठता है और पास ही एक शिला पर बैठ जाता है। नारी दयार्द्र-सी होकर उसके पास जाती है और घास तोड़कर उसका रुधिर पोंछने लगती है। जब देखती है कि रुधिर फिर भी नहीं रुक रहा है तब उसे नीचे उतार लाती है और झरने के पास ले जाकर पानी से उसके घाव धोने लगती है तथा एक वृक्ष की छाल तोड़कर उसके अंग को लपेट देती है। पुरुष स्त्री से पहले तो कुछ नहीं बोलता फिर सामर्थ्य पा जाने पर उसका हाथ झटक देता है। स्त्री संकुचित-सी होकर पीछे हट जाती है तथा पुरुष की ओर देखती रहती है। पुरुष फिर एकदम अट्टहास करके वृक्ष पर चढ़ जाता है और एक लँगूर को पकड़ने लगता है। लँगूर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूद जाता है। पुरुष भी उसी तरह दूसरे वृक्ष पर कूदकर लँगूर की पूँछ पकड़ उसे खींच लेता है और दोनों नीचे आ जाते हैं।

स्त्री भययुक्त कृतज्ञता तथा उसके साहस पर मुग्ध होकर मुस्कराती है। पुरुष लँगूर की पूँछ पकड़ खेल ही खेल में उसे वृक्ष की तरफ उछाल देता है। फिर स्त्री की ओर मुड़ता है। स्त्री भी मृग को छोड़कर पुरुष की ओर बढ़ती है।

दोनों आमने-सामने खड़े हो गये हैं। नर में हर्ष है, नारी में उत्सुकता और लालसा। नर नारी के शरीर की ओर देखकर हँसता हुआ उसके अंग छूता है। नारी एकदम पीछे हटकर नर की ओर देखने लगती है। नर इधर-उधर देखता हुआ कुछ सोचता है और नारी के पास जाकर उसके शरीर को छूने लगता है। नारी डरी-सी उस ओर देखती है परन्तु शरीर छूने देती है। ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अननुभूत रोमांच उसे हो रहा है।

पुरुष—(पहले नारी की उँगलियाँ पकड़ता है। फिर उसके बाहु पर हाथ फेरने लगता है तथा पशु द्वारा की गई हाथ की खरोंच को साफ करके हँसने लगता है।)

स्त्री—(भेदभरी दृष्टि से पुरुष की ओर देखती हुई उसके साथ चलने लगती है। फिर एकदम हाथ छुड़ाकर पीछे आती हुई गाय के शरीर पर हाथ फेरने लगती है।)

पुरुष—(पहले खड़ा होकर देखता है। फिर वह भी गाय के पास चला जाता है और स्वयं गाय के शरीर पर हाथ फेरने लगता है। गाय शरीर पर उसके हाथ रखते ही बिदक जाती है।)

स्त्री—(गर्व तथा भेदभरी दृष्टि से पुरुष को देखती है।)

पुरुष—(धीरे-धीरे क्रोध में आकर गाय को पकड़ लेता है। गाय छिटककर अलग हो जाती है। वह उसे फिर दबोच लेता है।)

स्त्री—(पुरुष के हाथों से उसे छुड़ाने लगती है।)

पुरुष—(स्त्री की ओर देखते हुए हँसकर गाय को छोड़ देता है।)

इसी समय सूर्य एकदम छिप जाता है। मेघ गड़गड़ाकर गर्जने लगते हैं। हवा तेज़ हो जाती है। लँगूर किलकारियाँ भरकर कूदने लगते हैं। मृगों का जोड़ा चौकड़ी भरने लगता है। पुरुष प्रत्येक गर्जन पर अट्टहास करता है। स्त्री हँसती है। वर्षा आरम्भ हो जाती है। सब पशु-पक्षी भागते हुए भीगने लगते हैं। पुरुष और स्त्री भी एक दूसरे की तरफ देखते हुए भीग रहे हैं। फिर दोनों पास के वृक्ष की छाया में खड़े

हो जाते हैं। सर्दी बढ़ने लगती है। दोनों खड़े ठिठुरते हैं। पुरुष सर्दी के मारे वृक्ष के एक तने से चिपट जाता है। स्त्री भी उसी तने के दूसरे भाग से सटकर खड़ी हो जाती है। घोर अँधेरा छा जाता है। स्त्री शीत से काँपने लगती है। पुरुष दाँत कटकटाता है। बिजली चमकती है। पहाड़ से बर्फ के तोदे टूटकर बहने लगते हैं। झरनों में पानी बढ़ आता है। एक कम्पन-सा होता है। बिजली कड़कने लगती है। स्त्री डरती है। नाले के पानी के जोर से स्त्री के पैर उखड़ने लगते हैं। वह चिल्लाकर पुरुष को पकड़ने लगती है, पर दीख न सकने के कारण और भी घबरा जाती है। इतने में बिजली फिर चमकती है पुरुष स्त्री की ओर देखता है। स्त्री पुरुष की ओर देखती है। दोनों एक दूसरे से सटकर खड़े हो जाते हैं।

दूसरा दृश्य

(समय मध्याह्न)

[पहाड़ का वही भाग। एक शिलाखण्ड पर कुछ पत्थर जुड़ जाने से गुफा-सी बन गई है। उसके आगे दो बड़े पत्थर पड़े हैं जिन पर पृथक्-पृथक् वही स्त्री-पुरुष बैठे हैं। सामने मृग का एक जोड़ा धूप सेंक रहा है। स्त्री-पुरुष भी धूप सेंक रहे हैं। दोनों का ध्यान किसी भिन्न दिशा में है। बहुत से कबूतरों के जोड़े सामने वृक्षों पर बैठे किलोलें कर रहे हैं और चोंच से एक दूसरे को प्यार करते हैं। स्त्री उधर ही देखती है और पुरुष को उधर देखने के लिए संकेत कर रही है। केवल सतर्क-सी ध्यानमग्न-सी उधर देख रही है।]

स्त्री—(**केवल कुछ बोलना सीखी है**) देखो देखो !

पुरुष—हाँ हाँ, (**वह कबूतरों की ओर देखकर दूसरी तरफ़ देखने लगता है**)

स्त्री—देखो क्या ?

पुरुष—देखता हूँ ! (**फिर देखकर दूसरी ओर देखने लगता है।**

स्त्री उठकर उसके कन्धे पर हाथ रख लेती है। पुरुष बार-बार ध्यान भंग हो जाने से झल्लाकर स्त्री का हाथ झटक देता है और उठकर क्रोध से लाल-लाल आँखें करके उसकी ओर घूरता है।) मत बोल।

स्त्री—(पुरुष का निहोरा-सा करती हुई) क्या हुआ? ऐसे क्यों हो गये फिर?

पुरुष—मत बोल!

स्त्री—तुम्हें क्या हो गया है?

पुरुष—(पास पड़ा एक पत्थर उठाकर स्त्री की तरफ ताकता है। स्त्री डर जाती है। 'हैं हैं' करती है। पुरुष थोड़ी देर ताने रहकर न जाने क्या सोचकर कबूतरों की तरफ फेंक देता है। कबूतर उड़ जाते हैं। पुरुष अट्टहास करके) देखा! (इतने में देखते हैं, एक बड़ी गिलहरी दूसरी गिलहरी पर झपटती है। दोनों लड़ती हैं। दोनों के शरीर से खन बहने लगता है और लड़ती-लड़ती भाग जाती हैं। सोचकर) क्रोध है।

स्त्री—क्रोध है, बुरा तुझे भी हो गया था। मत बन। देख मुझे कभी क्या हो जाता है? (काँपने लगती है)

पुरुष—तू ऐसा क्यों करती है। यह नहीं होना चाहिए।

स्त्री—जब तुझे क्रोध होता है तब मुझे ऐसा ही हो जाता है। यह क्या है?

पुरुष—(सोचकर) भय है।

स्त्री—'भय' बुरा है। यह भी बुरा है। (पुरुष से लिपट जाती है। पुरुष उसे अलग कर देता है।) आह!

पुरुष—क्यों? ऐसा क्यों है?

स्त्री—(घबराती हुई) मुझे भय हो जाता है। तुझे क्रोध हो जाता है। यह दोनों बुरे हैं। दोनों बुरे हैं।

पुरुष—(एकदम) जाता हूँ, जाता हूँ। (जाने लगता है)

स्त्री—कहाँ, कहाँ जाता है? (आगे बढ़कर उसे रोकती है) मत जा।

पुरुष—(**घूरकर**) क्यों ?

स्त्री—मुझे होता है मत जा। क्या है यह, क्या कहूँ ?

पुरुष—इच्छा।

स्त्री—इच्छा ? हाँ इच्छा है, तू मत जा। तूने यह सब कहाँ से कहाँ से......।

पुरुष—सीखा !

स्त्री—कहाँ से सीखा ?

पुरुष—ब्रह्मा से, ब्रह्मा बड़ा है—हमसे बड़ा, हमारा जैसा, वह मुझे सिखाता है।

स्त्री—मैं भी सीखूँगा। कहाँ है, कहाँ है वह, कौन है ?

पुरुष—'सीखूँगी' कहो।

स्त्री—सीखूँगा, क्यों नहीं। बोलो, सीखूँगा ठीक है।

पुरुष—तू स्त्री है।

स्त्री—(**उत्सुकता से**) स्त्री, स्त्री क्या ?

पुरुष—तू नारी है।

स्त्री—यह पहले क्या कहा ?

पुरुष—स्त्री, नारी।

स्त्री—स्त्री, नारी, और तू भी नारी है ?

पुरुष—नहीं, पुरुष, नर !

स्त्री—(**आश्चर्य से**) पुरुष, नर, क्यों ?

पुरुष—ब्रह्मा ने कहा है। नर नारी हैं, पुरुष स्त्री हैं।

स्त्री—नर-नारी पुरुष-स्त्री। क्यों क्यों ऐसा क्यों। उसने उसने मुझे देखा ?

पुरुष—वह कभी-कभी आकर बताता है।

स्त्री—कब आया था ?

पुरुष—जब तू···(**नींद की ओर संकेत करता है**) जब तू यों हो जाती है (**आँखें बन्द करके सोने का नाट्य करता है**) तब आया था।

स्त्री—वह मुझे क्या हो गया था ?

पुरुष—सो गई थी। वह 'निद्रा' कहाती है। तब वह आया था।

स्त्री—**(सोचकर)** जब निद्रा हो गई थी तब आया था। वह नर है।

पुरुष—क्या जानें। पूछूँगा।

पुरुष—मैं जाता हूँ।

स्त्री—**(घबराकर)** तू जाता है, तो क्या कहूँ क्या होता है न जा। मैं भूल गई।

पुरुष—इच्छा।

स्त्री—हाँ हाँ। इच्छा होती है न जा।

पुरुष—नहीं, मैं जाऊँगा। ब्रह्मा ने कहा है—तू पुरुष है। कुछ करने जा।

स्त्री—**(हैरानी से)** करने, क्या करने ?

पुरुष—यह तो मैं भूल गया पर जाना होगा।

स्त्री—**(आगे बढ़कर)** ठहर। **(बाहर निकल जाता है। स्त्री घबरा कर)** मुझे कैसा होता है! **(उसी समय मानस शरीरधारी ब्रह्मा का प्रवेश एक छाया-सी दीख पड़ती है)** यह मुझे क्या हो गया है, यह मुझे क्या हुआ ? वह चला गया छोड़कर ? यह मुझे कैसा होता है ?

ब्रह्मा—घबराहट, भय।

स्त्री—घबराहट, भय उसने कहा था। **(इधर-उधर देखकर)** तू कौन है ? कुछ भी नहीं दीख पड़ता। हाँ मैं डर गई हूँ। घबराहट हो गई है। यह ऐसा क्यों हो गया ?

ब्रह्मा—यह स्वभाव है।

स्त्री—**(इधर-उधर देखकर)** स्वभाव ? स्वभाव क्या होता है, यह कौन बोलता है ?

ब्रह्मा—ऐसी अवस्था में इस प्रकार होता है।

स्त्री—ऐसा होना स्वभाव है। अच्छा, मैं चाहती हूँ वह न जाता। वह कब आवेगा, कब आवेगा ?

ब्रह्मा—(**कोई जवाब नहीं मिलता**)

स्त्री—तू कौन है, दिखाई कुछ भी नहीं देता।

ब्रह्मा—(**कोई उत्तर नहीं मिलता, थोड़ी देर बाद**) नारी ?

स्त्री—(**उत्सुक होकर**) क्या कहा, नारी; उसने कहा था नारी ! मैं नारी हूँ।

ब्रह्मा—तू नारी है, स्त्री।

स्त्री—और वह कौन है !

ब्रह्मा—नर, पुरुष !

स्त्री—ठीक, नर, पुरुष। पर वह गया क्यों, आया क्यों नहीं ? आया क्यों नहीं ?

ब्रह्मा—वह पुरुष है और तू स्त्री है। तू यह सब देख रही है ?

स्त्री—देख तो रही हूँ।

ब्रह्मा—यह सब क्या है ?

स्त्री—(**चारों ओर देखकर**) देख तो रही हूँ पर जानती नहीं। यह क्या है ? यह सामने क्या है पतला-पतला। बहुत बड़ा। मैं चाहती हूँ जानूँ, यह सब क्या है ? मेरी इच्छा है। मैं सोचती हूँ उससे पूछूँ, तूने उससे क्या कह दिया ? वह क्या करने गया है ?

ब्रह्मा—करना ही स्वभाव है।

स्त्री—क्या यह सब स्वभाव है ?

ब्रह्मा—हाँ यह तू जो सामने देख रही है यह क्या है, यह समुद्र है। तूने देखा ?

स्त्री—हाँ सोचती हूँ यह क्या है पर यह तो जल है। ऊपर से गिरता है और यहाँ इकठा हो जाता है, यह कैसी बात है ! इतने जल का क्या होगा, तू बता सकता है ? ओः उस दिन, उस दिन मैं और वह, वह सब क्या हो गया था तू बता सकता है ? हमारी देह को कुछ हो रहा था।

ब्रह्मा—वह वर्षा थी। तुम दोनों सर्दी, ठंड से ठिठुर रहे थे। वह भी प्रकृति का स्वभाव है।

स्त्री—फिर कहा स्वभाव। यह स्वभाव मत कह, मुझे कैसा मालूम होता है। क्या कहूँ! भूल गई।

ब्रह्मा—बुरा! जो मन को भला न लगे, उस जगह 'बुरा' कहना चाहिए।

स्त्री—ठीक हाँ, वही तो। पर यह तूने क्या कहा 'प्रकृति'?

ब्रह्मा—हाँ, प्रकृति। यह समुद्र, वर्षा, पहाड़, हिम, वृक्ष, लता, पत्ते, घास सब प्रकृति का ही रूप है।

स्त्री—हाँ, हाँ यह सब प्रकृति है। ठीक है सब प्रकृति है। हम भी प्रकृति हैं। वह भी प्रकृति है। मुझे क्या हो गया। यह समुद्र, वर्षा, पहाड़, हिम, वृक्ष, लता, पत्ते, घास से अधिक मुझे वह क्यों अच्छा लगता है। तू बता सकता है? (**इतने में मृग आकर स्त्री के शरीर को चाटने लगता है**) यह अच्छा लगता है। (**हाथ फेरकर प्रसन्न होती हुई**) कितना सुन्दर, बहुत सुन्दर है। ओः कितना अच्छा है। कुछ बहुत अच्छा, कुछ बहुत बुरा, ऐसा क्यों है, तू बता सकता है?

ब्रह्मा—यह संसार है। यहाँ सभी तरह की वस्तुएँ हैं। कौन वस्तु अच्छी है कौन बुरी? यह देखने, जानने वाले की रुचि पर निर्भर है जो पत्थर किसी के लगकर चोट पहुँचा सकता है वही गुफा बनाने के काम भी तो आता है। जिस जल में आदमी डूब जाता है वही सम्पूर्ण प्रकृति को जीवन देता है। जिस सूर्य के प्रकाश से तुम्हारी देह झुलस जाती है वही न हो तो संसार अन्धकारमय हो जाय और प्रकृति तथा मनुष्य का जीवन असम्भव हो जाय।

स्त्री—'असम्भव' बिल्कुल नया शब्द है। 'जीवन' यह क्या है? इतने शब्द?

ब्रह्मा—घास बढ़ती है।

स्त्री—हाँ पिछले दिनों में इसके पास की घास बढ़ गई है।

ब्रह्मा—तू ने देखा होगा यह वृक्ष भी बढ़ रहा है।

स्त्री—हाँ।

ब्रह्मा—क्या तू कुछ समय पूर्व इतनी ही बड़ी थी जितनी अब ?

स्त्री—**(अपने शरीर की ओर देखकर)** बढ़ी हूँ।

ब्रह्मा—तो 'बढ़ना' जीवन है, परन्तु तेरे और वृक्षों के जीवन में अन्तर है। वृक्ष, लता बढ़ते हैं किन्तु मनुष्य का जीवन इसके अतिरिक्त कुछ और भी है। वह इच्छा करता है, किसी को बुरा समझता है, घृणा करता है, चाहता है, भय से बचने का यत्न करता है, सुख पाकर प्रसन्न होता है, दुख पाकर रो देता है, बस, यही उसका जीवन है। तेरा भी जीवन है और उस नर का भी, जो अभी बाहर गया है। मृग का भी जीवन है।

स्त्री—**(सोचती हुई)** यह जीवन है, यह जीवन है।

ब्रह्मा—तू जीवन का महत्त्व समझ। यही मैं तुझे बताने आया हूँ।

स्त्री—जीवन का महत्त्व क्या है ?

ब्रह्मा—जीवन···जीवन को बनाए रखना, उसको बढ़ाना।

स्त्री—उसको बढ़ाना, यह तू क्या कह रहा है ? वह बढ़ाया किस तरह जा सकता है ? असम्भव।

ब्रह्मा—यह तुझे अभी ज्ञात होगा। देख उधर सामने **(देखती है नर कन्धे पर नीलगाय के बच्चे को लादे चला आ रहा है। उसका सिर लटक रहा है और बालक नारी के सामने पटक देता है। स्त्री आश्चर्य, भय, उत्सुकता से उसकी तरफ देखती है।)**

स्त्री—यह क्या है, यह तो वही नीलगाय है न ? नहीं यह वह नहीं है। अरे ! इसे हो क्या गया ? यह तो उससे छोटा है, बहुत छोटा।

पुरुष—पहाड़ से गिर पड़ा इसे कुछ हो गया है। ठहर। **(दौड़कर दोनों हाथों में जल लाता है और उसके मुँह में डालता है। फिर भी उसे चेष्टा नहीं होती। नारी उसका सिर हिलाती है। मुँह खोलती है। खुर हिलाती है।)** इसे क्या हो गया ?

स्त्री—इसे वह हो गया जो पहले कभी नहीं हुआ था। यह क्या

है ? (**दोनों के चेहरे पर भय और शोक के चिह्न छा जाते हैं।**)

ब्रह्मा—यह मृत्यु है।

दोनों—मृत्यु।

ब्रह्मा—हाँ, यह मृत्यु है।

पुरुष—अच्छा तू है।

स्त्री—मृत्यु (**उसी चेष्टा में**) यह तो बहुत बुरी है।

पुरुष—बहुत बुरी है। अच्छा ब्रह्मा, तू बता सकता है क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

ब्रह्मा—हाँ, एक दिन सबकी यही दशा होगी।

स्त्री—हैं हैं, ऐसा क्यों कहता है, क्या मेरी भी ऐसी दशा होगी ?

ब्रह्मा—हाँ सबकी। परन्तु इसका उपाय है। जैसे जीवन से मृत्यु होती है वैसे ही जीवन से जीवन की उत्पत्ति होती है।

दोनों—'उत्पत्ति' नया शब्द है। उत्पत्ति क्या ?

ब्रह्मा—तू ने इस गाय को पहले देखा था ?

दोनों—नहीं, पर ऐसी ही एक हमारे पास खेलती थी।

ब्रह्मा—बस, यह उसी गाय की सन्तान है।

दोनों—सन्तान, (**आश्चर्य से**) एक और नई बात ! सन्तान क्या ?

ब्रह्मा—'बढ़ना'। दो से तीसरे की उत्पत्ति सन्तान कहलाती है।

स्त्री—(**उत्सुकता से**) तू क्या पहेली-सी कह रहा है ?

पुरुष—'पहेली' यह कैसा शब्द है। यह तूने कहाँ से सुना ?

स्त्री—यह मैंने अपने 'आप' कहा है। न मालूम मेरे मुख से कैसे निकल गया। ब्रह्मा, बताओ वह सन्तान कैसी होगी। मैं चाहती हूँ ऐसी गाय उत्पन्न कर सकूँ जिसके साथ सदा खेला करूँ।

ब्रह्मा—ऐसा नहीं हो सकता। तू अपने जैसी स्त्री-पुरुष ही उत्पन्न कर सकती है नीलगाय जैसी नहीं। अर्जुन की (**सामने की ओर संकेत करके**) सन्तान अर्जुन ही होगी नीलगाय की सन्तान नीलगाय।

स्त्री—मैं सन्तान चाहती हूँ। जब यह बाहर चला जाता है, जब यह

मुझ पर क्रोध करता है, पत्थर तानकर मारना चाहता है तब जो मेरी रक्षा कर सके, ऐसी सन्तान मैं चाहती हूँ। ब्रह्मा, मुझे उपाय बता।

पुरुष—मैं भी 'उत्पत्ति' करना चाहता हूँ (**स्त्री की ओर संकेत करता हुआ**) यदि इसकी पहले मृत्यु हुई तो मैं एक नारी के साथ रहना चाहूँगा जो बाहर से थककर आने पर मेरी सेवा कर सके। मुझे जल पिला सके। जैसा सिंह से युद्ध करने पर एक बार इसने किया था। मैं युद्ध चाहता हूँ। खूब दौड़ना, भागना, मारना, काटना चाहता हूँ और चाहता हूँ मैं किसी से भी न हारूँ। जब मैं थक जाऊँ तब (**स्त्री की ओर संकेत करके**) ऐसी नारी चाहता हूँ। मैं भी उत्पत्ति करना चाहता हूँ। ब्रह्मा तू मुझे कोई उपाय बता।

स्त्री—दौड़ना, भागना मैं नहीं चाहती। मैं एक जगह बैठी रहना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ उससे प्रेम करूँ जो मेरी रखवाली करे। मुझे सिंह से बचावे।

पुरुष—'प्रेम' नया शब्द है। तू ऐसा क्यों चाहती है। मैं तुझसे दब नहीं सकता। तेरे कहने के अनुसार नहीं चल सकता। मैं स्वतंत्र हूँ। ब्रह्मा, मैं ऐसी स्त्री नहीं चाहता जो मुझ पर शासन करे। मैं चाहूँ तो अभी पत्थर मारकर तुझे समाप्त कर दूँ। (**क्रोध से दाँत पीसने लगता है। स्त्री डर जाती है**)

स्त्री—(**भीत-सी**) पर मैं ऐसा कहाँ चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ पर वैसा नहीं। ब्रह्मा बता, मैं कैसा चाहती हूँ?

ब्रह्मा—प्रेम का शासन। कोमलता का शासन। देखो, लड़ो मत। क्रोध मत करो। जीवन केवल बढ़ना, घटना, इच्छा करना, घृणा करना ही नहीं है। वह प्रिय, अप्रिय का भी है। सुन्दरता, कुरूपता का भी है। कटुता, मधुरता का भी है। उसे सुखी बनाना भी जीवन का एक लक्ष्य है। वह अकेले अकेले नहीं हो सकता। स्त्री और पुरुष दोनों के संयुक्त शासन का नाम संसार है। पुरुष बाहर की प्रत्येक वस्तु का शासक है। पशु, पक्षी, लता, पौधे, वृक्ष, पृथ्वी, पहाड़, समुद्र का शासक है। स्त्री पुरुष

के हृदय की शासक है। नारी का जीवन सौन्दर्य, दया, त्याग, करुणा, प्रेम है। उसके द्वारा वह पुरुष पर शासन करती है। उत्पत्ति उस जीवन को आगे बढ़ाने वाली वस्तु है। वही 'उत्पत्ति' तुम दोनों को जाननी है।

स्त्री—**(प्रसन्नता से उछलकर)** ब्रह्मा, तू बड़ा चतुर है। तूने मेरी बात कह दी। वही बात मैं कहना चाहती थी।

पुरुष—मैं स्वतंत्र हूँ। पर मुझे इस गाय की मृत्यु से भय हो गया है। मैं इस मृत्यु से कैसे छुटकारा पा सकता हूँ। इसका उपाय बता। ओः मृत्यु बड़ी भयंकर है। इसमें न तो कोई बात कर सकता है, न सुन ही सकता है।

स्त्री—ब्रह्मा, मैं उत्पत्ति चाहती हूँ। मुझे मृत्यु से भय लगता है। तू बता सकता है यह मृत्यु है क्या ?

पुरुष—पागल, तू इतना भी नहीं जानती। मृत्यु कुछ भी नहीं, बस, मृत्यु है। थक जाने पर सो जाने की तरह। लाओ इसकी रक्षा करें। यह फिर उठ सकता है। क्यों ब्रह्मा ?

ब्रह्मा—नहीं, अब यह नहीं उठ सकता। इसके शरीर में बोलने, सुननेवाली शक्ति, वह वस्तु नहीं रही। एक दिन तुम दोनों भी इसी तरह शक्तिहीन पड़े रहोगे।

पुरुष—**(मृग की तरफ ध्यान से देखता रहता है)** पर यह क्या, यह दुर्गन्ध कैसी है ?

स्त्री—हाँ, दुर्गन्ध **(नाक दबाती है जैसे भागना चाहती हो)**। यह इसी की दुर्गन्ध है। ओः इसे दूर कर, ले जा। मैं मृत्यु से बचने का प्रयत्न करूँगी। क्या मरने पर मेरे शरीर से भी इसी प्रकार की दुर्गन्ध उठेगी ? **(भय होता है।)**

पुरुष—ब्रह्मा, क्या मेरे शरीर से भी दुर्गन्ध उठेगी ? **(काँपता है।)**

ब्रह्मा—इसका शरीर सड़ने लगा है। इसका जीवन समाप्त होगया है। तुम लोग जीवन की रक्षा के लिए उसे स्थिर रखने के लिए ही उत्पन्न हुए हो। आओ, मैं तुम्हें उत्पत्ति का उपाय बताऊँ। **(नर से)**

तुम इस शव को ले जाकर दूर फेंक आओ।

स्त्री – (**आश्चर्य से**) क्या कहा 'शव' ! एक और नया शब्द ! मैं डर गई । मैं जीवन चाहती हूँ। क्या सदा जीवित नहीं रह सकती ? (**नर गाय का शव उठाकर ले जाता है**) ब्रह्मा ! मैं जीवन चाहती हूँ। मैं क्यों न जी सकूँगी, मुझे कौन मारेगा ? क्या कोई पहाड़ से न गिरे तब भी मर जायगा ? मैं जीवन चाहती हूँ ब्रह्मा !

ब्रह्मा—मैंने तुम से पहले ही कहा है कि कोई भी प्राणी सदा जीवित नहीं रह सकता। परन्तु जीवन का क्रम बराबर बनाये रखा जा सकता है। स्त्री में वह शक्ति है जिसके द्वारा वह जीवन को स्थिर रख सकती है। जब वह अपने जैसी अनेक सन्तान, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उत्पन्न कर लेती है तभी उसके जीवन का ध्येय पूरा हो जाता है।

स्त्री—परन्तु इस शरीर से एक और प्राणी कैसे हो सकेगा ? असम्भव !

ब्रह्मा—हाँ, शरीर से ही शरीर की उत्पत्ति होती है।

स्त्री—(**आश्चर्य से**) कैसे ?

ब्रह्मा—देखो नारी, भय की कोई बात नहीं। तुम जानती हो मैं ब्रह्मा हूँ। मैंने ही तुम दोनों को उत्पन्न किया है। सहस्रों वर्ष तप करने के बाद मुझ में इतनी शक्ति हुई है कि मैं तुम दोनों को उत्पन कर सका। मैं चाहता हूँ तुम दोनों मिलकर संसार उत्पन्न कर सको जिससे पुरुष और स्त्री के नाश का क्रम न टूटे।

स्त्री—परन्तु इस उत्पत्ति से मुझे क्या लाभ होगा ? मैं नहीं चाहती कि ऐसा पुरुष हो जो मुझ पर क्रोध करता रहे और मुझ जैसी स्त्री हो जिसे बहकाकर वह ले जावे। नहीं ब्रह्मा, मैं उत्पत्ति नहीं चाहती।

ब्रह्मा—ऐसा नहीं हो सकता। जब तुम दोनों निर्बल हो जाओगे तब तुम्हारी सन्तान तुम्हारी सेवा करेगी। पुत्र तुम्हारे लिए भोजन लावेगा, कन्या तुम्हारी सहायता करेगी। इसके अतिरिक्त ंसार को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि तुम दोनों मिलकर नया जीवन उत्पन्न करो।

स्त्री—दोनों मिलकर यह कैसे हो सकता है ? नहीं मैं सन्तान नहीं चाहती ।

(पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—(**ब्रह्मा को बातें करते देखकर**) फिर वही, हर समय वही 'उत्पत्ति' 'उत्पत्ति' (**क्रोध में आकर ब्रह्मा से**) मैं उत्पति नहीं चाहता । उस दिन भी तूने कहा था, उत्पत्ति कर। (**स्त्री से**) देख, उत्पत्ति का नाम न लेना । (**मारने झपटता है, नारी पीछे हटती है ।**)

स्त्री—(**डरकर**) क्या कर रहा है ? क्या कर रहा है ?

ब्रह्मा—(**तीव्र स्वर में**) ठहरो, क्या करते हो ?

पुरुष—(**क्रोध से**) तू मुझे दिखाई नहीं देता, नहीं तो··· (**क्रोध से मुट्ठी ताने ब्रह्मा के स्वर की ओर देखता है ।**)

ब्रह्मा—(**अट्टहास करके**) मार देते क्या ? हा हा हा हा ! हा हा हा हा !

पुरुष—(**क्रोध में भरा हुआ उसके हँसने से मिसमिसाकर**) हैं हैं यह क्या ? तू (**फिर क्रोध से**) क्यों इसे······? क्या कहूँ ?

ब्रह्मा—मैं 'बहकाता' हूँ इसे ? नहीं; मैं नहीं बहकाता, मैं साधन हूँ ।

स्त्री—'बहकाता' एक नया शब्द है । साधन कैसा ?

पुरुष—साधन, किस बात का साधन ?

ब्रह्मा—तुम दोनों को मिलाने का ? तुम दोनों एक हो जाओ, एक दूसरे से प्रेम करो तो······।

स्त्री—ठहर, ठहर, 'प्रेम' क्या ?

पुरुष—हाँ, यह तो नई बात है ।

ब्रह्मा—यदि तुम मिलकर रहो तो कोई भी तुमको डरा नहीं सकता। तुम संसार पर विजय पा सकते हो ।

स्त्री—(**आश्चर्य से**) अर्थात्····

पुरुष—(**क्रोध से**) अर्थात् ?

ब्रह्मा—तुम जो चाहो कर सकते हो। तुम्हारी संतान के सामने यह

सिंह, छिपकली, हाथी, सब दब जायँगे।

पुरुष—**(क्रोध से)** परन्तु उससे मुझे क्या? मेरा क्या लाभ है? नहीं, मैं ऐसे ही रहना चाहता हूँ। मुझे ऐसे ही रहने दो। मैं इस नारी को नहीं चाहता। मैं किसी को नहीं चाहता। मैं किसी से नहीं डरता।

ब्रह्मा—**(तीव्र स्वर में)** तुमने वह मृत्यु देखी, तुम्हारी भी वही दशा होगी। उस समय तुम क्या करोगे?

पुरुष—**(उसी भाव से)** कुछ नहीं, मर जाऊँगा।

स्त्री—**(निहोरे के ढंग से)** नहीं, ऐसा न कह, ऐसा न कह। हमें कोई उपाय सोचना चाहिए। आ, हम मिलकर कोई उपाय सोचें। **(हाथ पकड़ती है)** ब्रह्मा, हमें ठीक-ठीक बता। **(नर की ओर देखती हुई)** न जाने तुझे देखकर मुझे कैसा होता है?

(इसी समय दोनों देखते हैं कि वह भूभाग एकदम बदला जा रहा है, वहाँ बहुत से फूल खिल गये हैं। मीठी-मीठी गरम हवा चलने लगी है। बहुत से पशु-पक्षी वहाँ न जाने कहाँ से आ रहे हैं। जोड़े के जोड़े एक दूसरे से प्यार करने लगे हैं, जैसे सब कुछ बदल गया है। ऊपर, नीचे सभी जगह एक तरह की मस्ती-सी छा गई है। दोनों के शरीर में सिहरन होने लगती है। इतने पक्षी और पशुओं के होते हुए भी न कोई किसी को मारता है, न कोई किसी से कुछ कहता है। सब कुछ मानों बदल रहा है।

क्रोध, हिंसा तो मानों कहीं भी नहीं है। दोनों आश्चर्य से यह दृश्य देखते रहते हैं। यह सब उनके लिए बिलकुल नया है। ऐसा कभी न देखा था। अन्त में नारी नर के शरीर पर हाथ रख देती है, नर भी नारी के शरीर पर हाथ रखता है, फिर देखते हैं खरगोशों की एक लम्बी कतार दौड़ी चली आ रही है। बड़े सुन्दर, वे आकर एक-दूसरे को प्यार करते हैं, चूमते हैं, चाटते हैं।

पुरुष—**(आश्चर्य से)** यह क्या है, अरे, क्या हो गया? **(स्त्री की ओर हँसकर)** यह क्या हो रहा है? इतना सुन्दर!

स्त्री—सुन्दर, सचमुच सुन्दर। (**फूल सूँघती हुई**) यह फूल, कितना मीठा!

पुरुष—'सुगन्धित' कहो।

स्त्री—हां, सुगन्धित! बड़ा सुन्दर! बड़ा सुगन्धित यह झरना कितना...! क्या कहूँ? आहा, ऐसा कभी न देखा था!

पुरुष—सचमुच! सचमुच!

(पुरुष प्रसन्नता से उठकर कूदने लगता है। कुलांचे मारता है। स्त्री उसको देखकर पहले धीरे-धीरे मुँह फाड़कर हवा खाती हुई घूमती है। फूल तोड़कर सूँघती है। पुरुष को उसे सुँघाती है, किन्तु पुरुष कुलांचे लगाता रहता है। अन्त में उसे पकड़कर फूल सुँघाती है। पुरुष उस पुष्प की सुगन्धि से प्रसन्न होता है। फिर हा हा हा हा करके छलाँगों का क्रम बदलकर कूदने लगता है। स्त्री को साथ ले लेने के कारण उसकी गति धीमी हो जाती है और वे दोनों मन्द गति से कूदने लगते हैं। मानों उन्हें प्रसन्नता प्रकट करने का और कोई साधन नहीं है। फिर बैठ जाते हैं। इसी समय हरिण हरिणी के जोड़े के साथ उनका एक बच्चा कूदता वहाँ आ जाता है।)

स्त्री—अरे! यह क्या? देखा तूने?

पुरुष—**(गाता हुआ)** रहने दे मैं नहीं देखना चाहता। आ कूदें।

स्त्री—नहीं बैठ। देख, यह छोटे हरिण की उत्पत्ति शरीर से शरीर की है।

पुरुष—आश्चर्य!

स्त्री—न जाने यह क्या हो रहा है? मेरे हृदय में भी जैसे कुछ हो रहा है। एक गुलगुली-सी हो रही है। मेरे शरीर में कुछ हो रहा है।

पुरुष—मैं तो आनन्द में बेसुध हुआ जा रहा हूँ। (**दोनों एक-दूसरे के पास सरककर सटकर बैठ जाते हैं।**) वह तूने उस गिलहरी को देखा?

स्त्री—**(उसी भाव से)** हां, देख तो रही हूँ।

पुरुष—(**देखता रहता है**)।

स्त्री—वह गाय, देख कैसे एक-दूसरे को चाट रही है ?

पुरुष—(**उसी भाव से**) हाँ, यह सब क्या है ?

स्त्री—(**नर के शरीर से लिपटकर**) यही जीवन का सुख है। ओह, कितना महान्। मुझे रोमांच हो रहा है। (**आनन्द-विभोर होकर नर के शरीर पर हाथ फेरती है। नर वैसे ही ध्यान में मग्न रहता है। फिर एकाएक दोनों एक-दूसरे को देखने लगते हैं, आँखें गड़ाये देखते रहते हैं। दोनों उठकर खड़े हो जाते हैं। फिर भी एक-दूसरे को देखते रहते हैं। एकदम अन्धकार छा जाता है**)

स्त्री—एक आवाज़ आती है। ब्रह्मा यही हमें दिखाना चाहते थे, यही बताना चाहते थे।

पुरुष—(**उसी स्वर में**) हाँ !

स्त्री—आओ हम उत्पत्ति करें।

पुरुष—हाँ।

स्त्री—क्या नर और नारी के जीवन की यही सार्थकता है ?

पुरुष—उत्पत्ति ही जीवन है।

स्त्री—क्या उत्पत्ति ही जीवन है ?

पुरुष—हाँ, उत्पत्ति ही जीवन है।

स्त्री—सब ओर आनन्द का समुद्र लहरा रहा है।

पुरुष—मैं भी सब-कुछ भूल गया हूँ। बेसुध, विभोर हुआ जा रहा हूँ।

दोनों—जीवन। जीवन की मुक्ति।

दोनों—हाँ !

(**धीरे-धीरे प्रकाश होता है। देखते हैं लताओं, वृक्षों में फूलों के गुच्छे लटकने लगे हैं। कुछ वृक्षों में फल भी निकल आये हैं। दोनों प्राणी इतने प्रसन्न हैं, मानो नया संसार नई आँखों से देख रहे हों। दोनों के मुखों पर अलौकिक प्रकाश की आभा छिटकने लगी है। दोनों**

एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखे बैठे हैं और पृथ्वी का सौन्दर्य देख रहे हैं।)

स्त्री—(पुरुष की ओर ध्यान से देखकर) क्या देख रहा है ?

पुरुष—(स्त्री का मुख अपनी ओर फेरकर) देख रहा हूँ, क्या जीवन यहाँ से प्रारम्भ होता है ?

तीसरा दृश्य

(बहुत समय बाद)

[पहाड़ का वही भाग। शिलाखण्ड के पत्थर काटकर कुछ ठीक कर दिये गये हैं। उसके आगे का भाग पहले की अपेक्षा कुछ साफ़-सुथरा दीख पड़ता है। थोड़ी दूर पर हरिण का जोड़ा आँखें बन्द किये रोमन्थ कर रहा है। हरिणी का मुँह हरिण की गर्दन पर लटका है। उसके पास ही एक छोटा-सा बच्चा घास बिछाकर उस पर लिटा दिया गया है। जो पड़ा-पड़ा आसमान की ओर देख रहा है। सब ओर सुनसान है। इतने में एक ओर से गुर्राने की आवाज़ सुनाई पड़ती है। हरिणी सिर उठाकर उस ओर आँखें फाड़कर देखने लगती है। हरिण उठकर खड़ा हो जाता है। बच्चा वैसे ही पड़ा है। कोलाहल का उस पर केवल इतना प्रभाव पड़ा है कि ज़रा मुँह बनाकर रोने की चेष्टा करता है और एकाध क्षीण स्वर निकाल भी देता है। इसी बीच एक सिंह चुपके से झपटकर हरिणी को दबोच लेता है। हरिण भाग जाता है। वृक्ष पर बैठे पक्षी चहचहाने लगते हैं और ज़ोर-ज़ोर से कौए बोलने लगते हैं मानों उन्हें भी भय हो रहा है। 'चीं चीं', 'काँय काँय' की उग्रता बढ़ती जाती है। एक ओर से सूखी लौकी के बने हुए बर्तन में पिछले दृश्य में दिखाई गई स्त्री पानी लिये जल्दी-जल्दी चली आ रही है। उसका नामकरण हो गया है—शतरूपा। सिंह को मृगी को दबाए हुए देखकर पानी का बर्तन वहीं रखकर चिल्लाती है और बच्चे की ओर झपटती है फिर रुक जाती है। फिर आगे बढ़ती है। सिंह उस

स्त्री की ओर देखकर पहले धीरे-धीरे गुर्राता है, फिर दहाड़ता है। मृगी को पंजे से दबाकर खड़ा हो जाता है और ज़ोर-ज़ोर से दहाड़ने लगता है। बच्चा रोने लगता है। स्त्री बच्चे को एकदम उठाकर छाती से चिपटा लेती है। वह चेष्टा करती है हाथ उठाकर कि सिंह को भगा सके पर सिंह चुपचाप मृगी के पेट पर दोनों पंजे जमाकर बैठ जाता है और शिकार से खेल-सा करने लगता है। मानों स्त्री के चीत्कार का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। फिर एकदम मृगी को मुँह में दबाये घसीटता हुआ ओझल हो जाता है। स्त्री बच्चे को उसी भाग में, जहाँ बच्चा घास पर पहले सो रहा था लिटाकर 'मनु, मनु' करके चिल्लाने लगता है। मनु एक हाथ में पत्थर का लम्बा-सा खाँडा लिये आता है। इस समय मनु छाल के कपड़े पहने है जो लकड़ी के टुकड़ों की छोटी-छोटी सींकों में बँधे हुए हैं। बाल पीछे की ओर लटकते हुए, जो बीच में छाल से बाँध दिये गये हैं। स्त्री का भी यही वेष है।]

स्वायंभुव मनु—(**कन्धे पर खांडा रखे हुए आता हुआ**) क्या है शत-रूपा, क्या बात है?

शतरूपा—(**जो अभी तक कुछ-कुछ भयभीत और शोकातुर है**) क्या अब भी नहीं देखा?

स्वा० मनु—(**भूमि पर रुधिर की धार पड़ी और फैली हुई देखकर निडर भाव से**) देख तो रहा हूँ। सिंह था कदाचित्। (**सामने देखकर**) मृगी को ले गया?

शतरूपा—उसके पेट में बच्चा था। (**आँखों में आँसू भरकर**) तुमने सुना क्यों नहीं। मैं कुछ भी न कर सकी (**ध्यान आते ही**) यदि इसको (बच्चे को) उठा ले जाता तब···। तुम सुनते नहीं हो।

स्वा० मनु—मैं दूर था। कोलाहल सुनकर ही तो चल पड़ा। अच्छी मृगी थी। सब कहाँ हैं?

शतरूपा—(**उसी भाव से**) मैं क्या जानूँ?

स्वा० मनु—यह ठीक नहीं है। मैं दिन भर खेत में काम करूँ और

वे सब घूमते रहें! यह तो अच्छा नहीं है, शतरूपा।

शतरूपा—(**कुछ भी नहीं बोलती**)।

स्वा० मनु—यह ठीक नहीं है। हमको उद्योग करना चाहिए। अरे, तुम अभी तक डरी हुई हो। डरने की क्या बात है? जो होगया सो ठीक है।

शतरूपा—डरूँ क्यों न! वह प्यारी मृगी आज मार डाली गई। सिंह उसको उठाकर ले गया। क्या यह डर की बात नहीं है? मेरा मन काँप रहा है। मनु, मैं देखती हूँ, आज सिंह उसे ले गया, कल को यदि मेरे बच्चों को उठाकर ले गया तब मैं क्या करूँगी?

स्वा० मनु—क्या करना है यह मैं नहीं जानता, पर तुम इतना भय क्यों करती हो? जब वैसा होगा तब देखा जायगा।

शतरूपा—नहीं मनु, यों न चलेगा। हम इस तरह ठीक नहीं रह सकते। तुम कोई प्रबन्ध अवश्य करो। मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है। मैंने जो कुछ किया है वह इसलिए नहीं कि उन्हें कोई मार डाले, उठा ले जाय। तुम्हें कुछ करना होगा मनु?

स्वा० मनु—(**जो किसी चिन्ता में एक ओर को ध्यान से देख रहा है**) हूँ।

शतरूपा—(**मनु के कन्धे पर हाथ रखकर**) बोलो, तुम इसका प्रबन्ध करोगे?

स्वा० मनु—(**उसी ध्यान में**) हाँ, मैं उस सिंह को मार डालूँगा। (**शतरूपा की ओर देखकर**) मैं उसे मार डालूँगा प्रिये!

शतरूपा—(**सोचती हुई**) तुम क्या सोच रहे हो यह मनु, तुम क्या सोचा करते हो? मैं देखती हूँ तुम कभी-कभी कुछ उदास हो जाते हो। कभी अपने आप हँसने भी लगते हो। न उसी तरह बोलते हो। तुम्हें क्या हो गया?

स्वा० मनु—मैं सोचता हूँ यह क्या हो रहा है? क्या होता जा रहा है? मैं पहले से बहुत जान गया हूँ। न मालूम इस संसार में क्यों बहुत

ज्ञान है ? जितना मैं सोचता हूँ उतना मुझे सब अधिक-अधिक जान पड़ता है। मैं सोचता हूँ इतने ज्ञान का क्या होगा ? यह क्या हमारे सुख के लिए होगा ?

शतरूपा—तुम व्यर्थ इतना सोचते हो। मैं तो कुछ भी नहीं सोचती। मैं तो सोच भी नहीं पाती **(गोद में लिये बच्चे को प्यार से देख कर)** मैं इसको देखती रहती हूँ। बच्चों को देखती रहती हूँ। मुझे ऐसा देखना-देखते रहना-भला लगता है। मैं चाहती हूँ सब खूब हँसें, खूब घूमें। प्यार करें एक दूसरे को। और इसी तरह से होता रहे। तुम सोचना छोड़ दो। उस मृगी की मुझे याद आ रही है। **(आँखें पोंछ लेती है)**।

स्वा० मनु—नहीं शतरूपा, यह सब ऐसा ही नहीं रहेगा। मैं देखता हूँ ये बालक बड़े हो गये हैं। आपस में लड़ रहे हैं। एक दूसरे को मार रहे हैं। बहुत बढ़ गये हैं। इन्हें जैसे कोई रोकनेवाला नहीं है। लड़ रहे हैं। कभी-कभी देखता हूँ हम बूढ़े हो गये हैं। हमारे हाथ-पैरों में बल नहीं रहा है। हमारी सब शक्ति क्षीण हो गई है। सर्दी हमें उठने नहीं देती। वायु हमें बुरी लगती है। गर्मी हमें सताती है। वर्षा के पानी में हम भीग रहे हैं। परन्तु ये लड़के लड़ रहे हैं। झोंपड़ी के लिए। कहीं से बहुत-सी स्त्रियाँ आ गई हैं। बस, उन्हीं के पीछे लड़ाई हो रही है। मेरे कुछ बालक, जो उस समय खूब बड़े हो गये हैं, मरे पड़े हैं। यह कैसा जीवन है ? बस, मैं यही सोचता रहता हूँ।

शतरूपा—**(सोचकर)** तुम जैसा सोचते हो वैसा नहीं हो सकेगा। मेरे बच्चे आपस में लड़ेंगे, मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। वे क्यों लड़ेंगे, उन्हें किस बात की कमी है ? वे कभी लड़ नहीं सकते। हमें जो यह जीवन मिला है, वह ऐसी बातें सोचने के लिए नहीं है। हम अभी बहुत दिन तक जियेंगे।

स्वा० मनु—कदाचित, कदाचित ऐसा न हो, पर मुझे जैसे यह सब होता दीख पड़ता है। खेत निराते-निराते मैं जब थक-सा जाता हूँ तब नीले आकाश के नीचे ठण्डी-ठण्डी वायु में मुझे ऐसा लगता है माना

मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ ? हमें यह जो जीवन मिला है उसके पीछे क्या इतना झंझट है। भूख, प्यास, नींद न जाने क्या-क्या ? यह सब क्या है ? उस दिन तुम नहीं थीं, झरने पर नहाने गई थीं या न जाने कहाँ ? मैंने देखा एक चमरी गाय बीमार-सी आकर उस सामने के वृक्ष के नीचे पड़ी है। बहुत दुखी है, मुँह से झाग निकल रहा है। आँखें बन्द हैं और एक दूसरी गाय ने आकर उसको सूँघा, उसने अपना सिर रगड़ा। एक और गाय आई। उसे आते देखकर सिर रगड़ने वाली गाय ने उससे लड़ना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि दोनों लड़ते-लड़ते लोहू-लुहान हो गईं। यही देखकर मैंने सोचा कि जहाँ बहुत होते हैं वहाँ लड़ाई होती है। उन्हें किस बात की कमी थी, फिर भी गायें आपस में लड़ मरीं। तब से मुझे चिन्ता है और मैं सोचता हूँ कि कहीं एक दिन हमें भी ऐसा न देखना पड़े ?

शतरूपा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वे मूर्ख हैं और हम बुद्धिमान्। हम बोलते हैं वे बोल नहीं सकते। हमने जब से बोलना सीखा है तब से ऐसा लगता है मानों कोई बात हमें कहने को नहीं रही है। हृदय में जो बात उठती है वह धुएँ की तरह बाहर निकल आती है। कोई बात ही नहीं है। केवल एक ही बात है और वह है प्रेम। न जाने क्यों वही मझे बहुत अच्छा लगता है। कभी-कभी मेरे हृदय में आँधी-सी उठती है। मैं अपने को सँभाल नहीं पाती। उस समय मुझे तुम्हारी याद आती है। इन बच्चों की याद आती है। उस मृगी की **(जो अब सिंह द्वारा मार डाली गई है)** याद आती है। उस गाय की याद आती है। मैं उन्हें दौड़-दौड़कर चूम लेती हूँ। और··· **(एक मनुष्य का प्रवेश। पत्थर का एक खांडा कन्धे पर रखे हुए क्रोध से भौंहें तनी हुईं। ऊपर शरीर पर मृग की खाल ओढ़े हुए। कटि-भाग में छाल लपेटे हुए। शरीर में चोट के दाग़, शरीर रुधिर से सना हुआ। आते ही आँगन में खांडा ज़ोर से पटककर खड़ा हो जाता है। दोनों हैरान-से उसकी ओर देखते रह जाते हैं।)**

उत्तानपाद—देखो माँ, अपने लड़के को समझा लो। मैं अधिक सहन नहीं कर सकता। बहुत हो गई। (**क्रोध से हाँपता है।**)

शतरूपा—(**आगे बढ़कर**) क्या हुआ पुत्र, क्या हुआ? प्रियव्रत कहाँ है? उसे तुम कहाँ छोड़ आये? अरे, तेरे शरीर में रुधिर के ये धब्बे कैसे? हैं यह चोट! यह क्या बात है उत्तानपाद?

स्वा० मनु—(**उपेक्षा के भाव से**) लड़ पड़े होंगे। मैं बहुत दिनों से यही तो देख रहा हूँ। इसीलिए मैं खेत जोतते, निराते, अनाज काटते, साफ़ करते थक जाता हूँ। इन लड़कों को कुछ सूझता ही नहीं।

उत्तानपाद—(**जो अभी तक हाँप रहा था**) पिताजी, आप कोई नियम बनाइये। मैं इस तरह नहीं रह सकता। आज उसने मेरी मृगया पर हाथ डाला और मुझ से युद्ध करने पर उतारू हो गया। मैंने बहुत रोका और चाहा कि वह मेरी मृगया न छुए। जब मैंने मृग को मारा तब उसका क्या अधिकार था। उस पर वह अपना अधिकार किस तरह कर सकता है?

शतरूपा—प्रियव्रत है कहाँ? वह बड़ा है। तुम्हें उस पर क्रोध न करना चाहिए बेटा!

उत्तानपाद—बड़ा होने से क्या? क्या उसे दूसरे की वस्तु पर अधिकार करना चाहिए था? मैं अब इस घर में न रह सकूँगा। या तो वही यहाँ रहेगा या फिर मैं। (**प्रियव्रत का भी उसी ढंग से प्रवेश**)।

प्रियव्रत—तुम यदि घर में मेरे साथ नहीं रह सकते तो मैं तुम्हारे साथ कब रहना चाहता हूँ? तुमने मेरा कुछ भी ध्यान नहीं किया। मैंने निश्चय किया है, मैं तुम्हारी छुई हुई मृगया को ग्रहण न करूँगा।

स्वा० मनु—देखो, न मृगया तुम्हारी है न प्रियव्रत की। यह तो प्रकृति की एक वस्तु है जिस पर सबका समान अधिकार है। लड़ना पाप है।

शतरूपा—पाप, यह नया शब्द है। यह पाप कैसे हो सकता है मनु!

उत्तानपाद—पाप, पुण्य मैं नहीं जानता। मैं तो एक बात जानता हूँ जीवन। जीवन जिस तरह से प्रसन्न हो, मन की इच्छा जिस तरह पूरी

हो, वही करना चाहिए।

शतरूपा—पाप, पुण्य अनोखे शब्द हैं। तुमने यह 'पुण्य' शब्द कहाँ से जाना?

उत्तानपाद—कहीं से भी नहीं। वैसे ही मुँह से निकल गया। मैं तो इतना जानता हूँ कि हम मनुष्य हैं। हमारा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है।

प्रियव्रत—ठीक है जैसे तुम्हारा अधिकार है, वैसे ही दूसरे का भी है। इस अधिकार का निर्णय कैसे हो फिर?

उत्तानपाद—युद्ध से। बल-प्रदर्शन द्वारा। जो बली होगा वही जीतेगा। उसी का अधिकार रह सकता है।

शतरूपा—यह तो ठीक है। वह सिंह बलवान था इसीलिए हरिणी को पकड़कर ले गया। यदि मैं उससे बलवान होती तो उसे मारकर भगा सकती थी। उससे अपनी प्यारी मृगी को छीन सकती थी। परन्तु यह क्या अच्छा मालूम होता है कि तुम लोग आपस में लड़ो। मैं डरती हूँ। तुम लड़ो मत। मेरे पास जो कुछ है तुम ले लो पर लड़ो मत। और भी तो मृगया है कोई एक तो नहीं जिसके लिए तुम्हें लड़ने की आवश्यकता हो।

उत्तानपाद—यह नहीं हो सकता माँ! यदि यही बात हो तो हमारा बली होना व्यर्थ है। हम पुरुष हैं। पुरुष का काम बली होना है। बल द्वारा सब पर शासन करना है। जो शासन नहीं कर सकते वे निर्बल हैं। उन्हें चाहिए कि बली की आज्ञा स्वीकार करें।

स्वा० मनु—आपस में लड़ना, मारना ही तो बल-प्रदर्शन नहीं है। दूसरों की सहायता करना भी बल का काम है। मैंने मरने, मारने, युद्ध करने के लिए तुमको नहीं उत्पन्न किया है। जीवन का लक्षण जीवन को बढ़ाना है मारना नहीं। आग से आग पैदा होती है, वृक्ष से वृक्ष और पशु से पशु। तुम लड़कर जीवन को नहीं बढ़ा सकते।

उत्तानपाद—यह ठीक है। हम जब उत्पन्न हुए हैं तब हम

अपने साथ आवश्यकता लेकर ही उत्पन्न हुए हैं—भूख, प्यास, नींद, इच्छा। यदि इनमें किसी प्रकार का विघ्न होगा तो मनुष्य उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेगा। जो वस्तु उस मार्ग में विघ्न रूप से खड़ी होगी, उसे दबाकर नष्ट कर डालना होगा। उसी का नाम युद्ध है। जैसे जीवन का स्वभाव इच्छा है, उसी प्रकार युद्ध भी जीवन का स्वभाव है।

स्वा० मनु—परन्तु जीवन तो मेरा भी है। मुझे युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। अपने खेत जोतकर अनाज उत्पन्न करता हूँ। तुम्हारा, तुम्हारे भाई का, तुम्हारी इस माँ का पेट पालता हूँ। मुझे तो कहीं भी युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। युद्ध को मैं पैशाचिक वृत्ति कहता हूँ। यह मनुष्य का नहीं पशुओं का काम है।

उत्तानपाद—पिताजी, तुम अकेले हो। यदि इसी खेत के और अधिकारी हो गये अर्थात् तुम्हारे मरने के बाद उसी खेत के सन्तान के अनुसार विभाग होंगे, उस समय जो वस्तु तुम्हारे लिए बहुत थी वही सन्तान के निर्वाह के लिए थोड़ी हो जायगी। फिर निर्वाह के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही होगा। या तो किसी की भूमि लेकर दबानी होगी या फिर भूखों मरना होगा। उस अवस्था में जीवन को स्थिर रखने के लिए एक ही बात है--युद्ध।

प्रियव्रत—मैं ऐसा जीवन नहीं चाहता। मैं युद्ध से घृणा करता हूँ। मैंने बड़े भाई होने के कारण मृगया पर अधिकार करना चाहा तो तुम युद्ध करने पर उतारू हो गये। इसी से मैंने कहा, मैं तुम्हारी मृगया को न लूँगा। तुम समझते हो युद्ध ही जीवन है, पर बात ऐसी नहीं है। यदि इसी प्रकार युद्ध होता रहे तो संसार में एक भी मनुष्य जीवित न रहेगा। सब एक दूसरे को मार डालेंगे।

उत्तानपाद—मार डालेंगे तो मार डालें। इसीलिए मैं कहता हूँ सदा बलवान बनो।

शतरूपा—तुम लोग न जाने इतनी बातें कहाँ से सीख गये हो। क्या

सृष्टि का यही अर्थ है कि लोग आपस में लड़ मरें ? नहीं, जीवन का यह उद्देश्य कदापि नहीं है। ब्रह्मा ने ऐसा कभी नहीं कहा। जैसे मैं और मनु परस्पर प्रेम से रहते हैं वैसे ही तुम भी प्रेम से रह सकते हो। एक दूसरे की भूख, प्यास, नींद का ध्यान रखो। दूसरे को सुखी रखने का ध्यान रखो तो दूसरा तुम्हें सुखी रखेगा। अपनी जान देकर तुम्हें सुखी रखेगा। मैं कह नहीं पाती, मनु की अवस्था तनिक भी खराब होते ही कैसी बेचैन हो जाती हूँ। ऐसा लगता है क्या करूँ ? यदि मैं मनु के लिए प्राण देकर भी उन्हें सुखी रख सकूँ तो उसमें मुझे तनिक भी संकोच न होगा। तुम्हें नहीं मालूम मैंने तुम्हारे लिए कितना कष्ट सहा है। स्वयं कई बार इच्छा न होते भी, शरीर स्वस्थ न होते भी सर्दी में अपनी छाल उतारकर तुम्हें गर्म रखने का प्रयत्न किया है। गर्मी में धूप से बचाकर छाया में रखा है। स्वयं न खाकर तुम्हें खिलाया है। परन्तु मुझे इसमें आनन्द मिलता रहा है। मैं तो इसको ही जीवन समझती हूँ।

उत्तानपाद—तो मेरा तुम्हारा निर्वाह नहीं हो सकता। मैं इसे कायरता, भीरुता समझता हूँ। मैं चाहता हूँ बलवान बनूँ। सब पर शासन करूँ। मैं जाता हूँ, जैसे मरीचि गया है वैसे ही मैं भी अपना नया स्थान बनाऊँगा और देखूँगा कि इस जीवन में मैं क्या कर सकता हूँ ? अच्छा माँ, जाता हूँ। **(एकदम खांडा उठाकर चला जाता है।)**

शतरूपा—चला गया। **(दौड़ती हुई)** बेटा, सुन तो। अरे सुन, **(पुत्र बढ़ता चला जाता है। यहाँ तक कि वह आँखों से ओझल हो जाता है। शतरूपा पुकारकर थक जाती है। फिर लौटकर गिर पड़ती है। मनु उसके पास जाकर उसे उठाते हैं। वह आँखें फाड़कर पति की ओर देखती रहती है। फिर एकदम रोने लगती है। मनु समझाते हैं। पर वह रोती ही जाती है)।**

स्वा० मनु—तुम व्यर्थ रोती हो शतरूपा, जो चला गया सो चला

गया। जब वह स्वयं तुम्हारे पास नहीं रहना चाहता तो व्यर्थ की चिन्ता से लाभ ?

शतरूपा—तो क्या मैंने सृष्टि इसीलिए उत्पन्न की थी कि सन्तान पिता का अनादर करके माता की अवज्ञा करके, बड़े भाई का तिरस्कार करके चली जाय ! एक चला गया, मैंने समझा जाने दो और तो हैं। परन्तु यह भी एक-एक करके सब न जाने कहाँ चले जाते हैं। हाय मनु, मैं क्या करूँ ? (**रोती है**)

प्रियव्रत—माता, घबराओ मत, हम सब तुम्हारी सेवा करेंगे। यह मेरा छोटा भाई जो है।

शतरूपा—बेटा, तुम नहीं जानते, मेरा हृदय कैसा हो रहा है। मनु, मैं सभी फूलों को एक-सा प्यार करती हूँ। मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। मनु, मैं क्या करूँ ? क्या सृष्टि इतनी निःस्नेह है, क्या उत्पत्ति का यही अर्थ है ! हाय, ब्रह्मा ने मुझे धोखा दिया।

स्वा० मनु—तुमने काँटों को फूल समझा है इसलिए तुम्हें कष्ट हो रहा है, जो अन्न हम खाते हैं उसका कुछ अंश शरीर का रस बनता है, रुधिर बनता है, यहाँ तक कि शरीर का परम रूप 'बल' बन जाता है, परन्तु उसके साथ ही कुछ भाग ऐसा होता है जिसे हम बाहर निकाल कर फेंक देते हैं। इसी तरह जो बुरा है वह अपने-आप निकल गया।

शतरूपा—मनु, मुझे तुम्हारी बातों से कोई संतोष नहीं होता। मैं देखती हूँ मेरा सारा जीवन व्यर्थ हो रहा है।

स्वा० मनु—व्यर्थ, अव्यर्थ दोनों संसार में कुछ भी नहीं है जो हमारे लिए, जीवन के लिए उपयोगी है वह अव्यर्थ। परन्तु देखना यह है, क्या इससे ही हमें इतने बड़े जीवन को नाप लेना चाहिए। यह तो एक हाथ से समुद्र को नाप लेने के बराबर है।

शतरूपा—मैं कुछ भी नहीं जानती मनु ! मैं इस महान् और विशाल समुद्र से बड़े अपने हृदय में करुणा, प्रेम लेकर आई हूँ। मैं इससे अपनी सम्पूर्ण सन्तान को भिगो देना चाहती थी पर देखती हूँ मेरा

प्रयत्न विफल होता जा रहा है। विफल हो रहा है मनु !

स्वा० मनु—मैं भी यही देख रहा हूँ कि ब्रह्मा का बताया हुआ उपाय निर्जीव है। उसमें प्राण नहीं है, प्रेम नहीं है, सहानुभूति नहीं है, व्यर्थ है। सम्पूर्ण निष्फल !

शतरूपा—उत्तानपाद चला गया, मनु उसे लौटाओ। मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकती। हाय, मैं कैसे जीवित रहूँगी ! (**देखती है प्रियव्रत उद्विग्न चित्त होकर जाने की तैयारी कर रहा है** ।)

स्वा० मनु—कहाँ चले, प्रियव्रत !

शतरूपा—कहाँ जा रहे हो बटा !

प्रियव्रत—जा रहा हूँ माता जी ! कहाँ जाऊँगा कुछ नहीं मालूम ! तुम्हारी बात सुनकर सोच रहा हूँ जीवन कुछ भी नहीं है। मैं तो ध्यान करना चाहता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ ब्रह्मा कौन है ? क्यों बार-बार वह आकर तुम्हें कुछ करने को कह जाता है ? मैं एकान्त में बैठकर सोचना चाहता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण विश्व को जानना चाहता हूँ। यह ब्रह्माण्ड किसने बनाया, यह संसार किसने बनाया, क्यों बनाया ? मुझे क्यों बनाया ? यह जीवन क्या है ? मरण क्या है ? यह सोचने वाला कौन है ? मैं क्या हूँ ? मुझे कोई इच्छा नहीं है। मैं इच्छा होते ही उसे हृदय से निकाल दूँगा। उस दिन हरिण की मृत्यु क्यों हुई ? क्यों न मैं मृत्यु को जीत लूँ ? और इस जीवन से क्या लाभ है ? यही जानने के लिए मेरे श्वास छटपटा रहे हैं। पिता ? मैं जानना चाहता हूँ, मुझे आज्ञा दीजिये।

शतरूपा—बेटा, क्या तुम्हें इस तरह हम लोगों को निराधार छोड़ कर जाना चाहिए।

[आकूती के साथ रुचि का प्रवेश]

आकूती—(**आते ही**) माताजी, मैं जाना चाहती हूँ, मुझे आज्ञा दीजिये। मैं इनके साथ रहना चाहती हूँ। न जाने क्यों ये मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। मैं इनके साथ रहना चाहती हूँ। (**रुचि के गले में**

हाथ डालकर) तुम मुझे बहुत प्रिय लगते हो। तुम्हारा नाम क्या है ? रुचि—रुचि ! आओ हम दोनों चलें न अब ?

आकूती—रुचि, कितना सुन्दर नाम है। मेरी भी यही इच्छा है माँ कि मैं रुचि के साथ रहूँ। तुम मुझे मारोगे तो नहीं। (**आँखें मटकाकर**) हाँ, देखो मुझे मारना मत।

स्वा० मनु—तुम किसके लड़के हो रुचि ?

रुचि—मरीचि का पुत्र हूँ मैं। मैं बहुत दिनों से घूम रहा हूँ। एकांत निर्जन में घूमते-घूमते मेरा जी उकता गया। कल अचानक तुम्हारी यह कन्या मुझे उस नदी के किनारे मिल गई। मुझे यह बहुत सुन्दर लगी। मैंने कहा, तुम मेरे साथ रहो। हम लोग नदी, समुद्र, झरनों के किनारे घूमेंगे। फूलों की सुगन्ध जब हमारे जीवन को प्रमत्त कर देगी तब हम दौड़ेंगे प्रसन्नता बिखेरते हुए। सध्या की लाली में जब हम दोनों का हृदय नाच उठेगा तब हम······

स्वा० मनु—ओहो, तुम बहुत बोलते जा रहे हो। ठहरो ! पहले यह बताओ तुम इसकी ठीक-ठीक रक्षा कर सकोगे ?

रुचि—इतने दिनों एकान्त-वास करके-करते मेरा जी ऊब गया। कोई बोलने वाला नहीं मिला। इसलिए चाहता हूँ खूब बोलूँ। जी भरकर बोलूँ। बोलता रहूँ। आज तुम मुझे मिले हो तो क्या बोलूँ भी न ! मैं तुम्हारी कन्या को बहुत अच्छी तरह रखूँगा। इतनी अच्छी तरह, जितने ठीक तरह से मैं स्वयं रहूँगा ? हा···तो मैं क्या कह रहा था आकूती, मैं कह रहा था—संध्या की लाली में जब हमारा हृदय नाच उठेगा तब हम प्रसन्नता के प्रकाश से उसे और भी लाल बना देंगे ? कोकिला के स्वर में स्वर मिलाकर जब मेरी प्रिया आकूती गायगी तब हृदय के आनन्द से उसका अभिषेक करूँगा ? प्रात.काल ऊषा के पूर्व दिशा से निकलते ही अर्जुन के वृक्ष के नीचे बैठकर हम लोग गायँगे ? उस स्वर-लहरी से पक्षियों का स्वर मिलकर उस प्रदेश को गुञ्जायमान कर देगा, यही मैंने इसे बताया है। मरीचि की संतान होने के कारण मैं पाप नहीं

जानता। परन्तु पाप-पएय कुछ भी नहीं मानना चाहता। पाप-पुएय संसारी के लिए है मेरे लिए...

आकूती—(उसके मुँह पर हाथ रखकर) बहुत मत बोलो प्रिय, देखो, माँ आश्चर्य से तुमको देख रही हैं।

रुचि—ठहरो, एक बात कह लेने दो। मनु, मैं एक बात कहना चाहता हूँ। तुम बुरा मत मानना। हम लोग मानस-सन्तान हैं मरीचि की मानस-सन्तान ! आकूती को लेकर मैं कितना सुखी हुआ हूँ। कदाचित् तुम्हें बताने के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। देव, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, भूत, प्रेत, राक्षस, देवता सभी तो मुझे आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। एक बार घूमते-घूमते ऐसा हुआ कि एक नागकन्या ने मुझसे प्रणाम करने को कहा। प्रणाम करना मैं क्या जानूँ मैं तो मरीचि की मानस-संतान हूँ न ? मैं उन दिनों तप कर रहा था। योग के आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि, ध्यान और उसी तरह का था वह मेरा तप। मैं उस समय प्रणय-व्रणय कुछ भी नहीं जानता था। मैंने उसका तिरस्कार किया। उसने नागों, राक्षसों, किन्नरों गन्धर्वों की सहायता से मुझ पर आक्रमण करना चाहा, परन्तु मरीचि की मानस-सन्तान होने के कारण वे मेरा कुछ भी न बिगाड़ सके। उसके...

शतरूपा—ठहरो, क्या तू इस बावदूक रुचि के साथ रहना चाहती है?

आकूती—हाँ। **(प्यार से)** माँ, मुझे इसकी बातें बहुत अच्छी लगती हैं।

प्रियव्रत—(रुचि से) तुम इतने तपस्वी होकर स्त्रियों के फेर में पड़ना चाहते हो। तप क्यों नहीं करते ?

रुचि—(क्रोध से) आप लोग मुझे बोलने नहीं देना चाहते, तो मैं आपकी बात का उत्तर क्या दूँ ? मैं जाता हूँ। आओ प्रिये आकूती, चलें।

आकूती—मैं जाती हूँ माँ ! जाती हूँ पिता ! **(रुचि के गले में हाथ डालकर चली जाती है)**

शतरूपा—इतना बोलने वाला रुचि, मैं तो आश्चर्य में रह गई। **(सोचकर)** उत्तानपाद गया, आकूती गई ?

प्रियव्रत—मैं भी जाता हूँ। मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है। माँ, आज्ञा दो ! पिता, आज्ञा दो !

शतरूपा—हाँ, सब लोग चले जाओ। सृष्टि इसीलिए है कि पैदा होते ही सब लोग अपना मार्ग ग्रहण करें। मनु, तुम सृष्टि के विधाता हो, क्या कोई ऐसा नियम नहीं बना सकते कि इनमें से सब अपने माता-पिता के पास रह सकें ? क्या हम इसी तरह अकेले रहेंगे ? ब्रह्मा से पूछो। कोई उपाय करो ! दो कन्या देवहूती और पुरुहूती रह गईं। कदाचित् वे भी किसी दिन अपना मार्ग ग्रहण करेंगी। क्या कोई भी तुम्हारा कहना नहीं सुनेगा ?

स्वा० मनु—ब्रह्मा ने अभी मुझे कुछ नहीं बताया। परन्तु देखता हूँ गृहस्थ एक झंझट है, उत्पत्ति एक कष्ट है, बन्धन है। इतने पर भी कन्या किसी को चुनकर सन्तान उत्पन्न करेगी ही। पुरुष उसे अपनी बना कर सन्तान बढ़ायेगा। कदाचित् यही विधाता की इच्छा है कि रोओ और उसी मार्ग पर चलते जाओ। तुम भी जाओ, बेटा ! जाओ तप करो और सृष्टि के इस प्रपंच में न पड़ना, जाओ !

प्रियव्रत—जो आज्ञा **(प्रणाम करके चला जाता है)**

स्वा० मनु—**(चिन्ता में मग्न होकर)** कुछ समझ में नहीं आता। न जाने यह कैसा संसार है। मैं भी क्यों न चला जाऊँ ? क्या मुझे इच्छा नहीं होती कि मैं जानूँ कि यह संसार क्या है ? न जाने मेरे ऊपर ब्रह्मा ने यह भार क्यों डाल दिया है ? न जाने ब्रह्मा कौन है ? क्या इस संकट को मैं पार कर सकूँगा ? नहीं शतरूपा, तुम मेरी कोई नहीं हो। न जाने उस दिन हम लोग किस तरह मिल गये ! इतना कष्ट बढ़ गया। मैं नहीं जानता जब रुचि मानस-सन्तान है तब फिर इस प्रकार की उत्पत्ति की क्या आवश्यकता है ? मैं यह नियम तोड़ देना चाहता हूँ। कोई क्रोध करता हो तो करे। मैं ब्रह्मा का कौन हूँ। ब्रह्मा मेरा कोई नहीं है। मैं भी

सोचूँगा, तप करूँगा। शतरूपा, अब से तुम मेरी कोई नहीं हो। मैं भी जाता हूँ।

शतरूपा—**(घबराकर)** मनु, यह तुम क्या करते हो? क्या मुझे अकेली, निःसहाय छोड़ जाओगे? नहीं, ऐसा न करो। मैं तुम्हारीसे वा करूँगी। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। **(एकदम शोक-विह्वल होकर मनु के पैरों पर गिर जाती है)**

स्वा० मनु—**(शतरूपा को पैरों में पड़ा देखकर)** अरे शतरूपा! तुम यह क्या कर रही हो? उठो। **(उठाते हैं)**

शतरूपा—मुझे अवलम्ब दो मनु! जो चले गये उन्हें जाने दो, पर तुम मत जाओ। देखो, **(सोचती हुई)** इस जीवन में मेरा कोई नहीं है। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती।

स्वा० मनु—मैं किसी को नहीं चाहता। मैं तुम्हें भी नहीं चाहता। मैं मरना भी नहीं चाहता। ब्रह्मा ने मुझे बहकाकर नरक में डाल दिया है। मैं स्वतन्त्र था। **(मुँह फेरकर दूसरी ओर देखने लगता है)**

शतरूपा—**(एक दिशा की ओर देखती हुई)** नहीं नहीं, मुझे कुछ दिखाई पड़ रहा है। मुझे एक नया संसार दीख पड़ता है।

स्वा० मनु—**(आश्चर्य और उत्सुकता से उस ओर मुड़कर)** क्या दीख पड़ता है?

शतरूपा—दीख पड़ता है, जैसे मैं और तुम प्रकृति के, संसार के सब कुछ हैं। पुरुष और स्त्री ही जीवन है। संसार में और कहीं भी कुछ नहीं है। कहीं भी कुछ नहीं है मनु! जैसे दो पैरों से गति होती है, दो हाथों से कार्य होता है। दो आँखों से निश्चयपूर्वक देखा जा सकता है। सब जगह दो ही तो हैं। इसी प्रकार हम-तुम दो ही तो संसार में हैं। हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जो चले गये, उन्हें जाने दो। अभी हम और सन्तान उत्पन्न करेंगे। इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न करेंगे। जो हमारी आज्ञा में रहेंगे।

स्वा० मनु—यह तुम्हारा भ्रम है। जो सन्तान होगी, इच्छा भी

तो उसके साथ ही होगी। वह कब चाहेगा कि स्वच्छन्दता छोड़कर वह मेरी और तुम्हारी सेवा करे।

शतरूपा—परन्तु··(सोचकर)

स्वा० मनु—परन्तु क्या?

शतरूपा—मैं सोच रही थी। एक बात मुझे याद आई थी। ठहरो, मैं उसे अच्छी तरह सोच लूँ। **(ध्यान करती है)** हाँ, याद आया। देखो, अब तुमने अपनी इच्छा से सन्तान उत्पन्न की। इसलिए सन्तान में तुम्हारे-जैसी स्वच्छन्दता, तप करने के लिए वन में जाने का भाव उत्पन्न हुआ। अब मैं अपनी इच्छा की सन्तान उत्पन्न करूँगी। मुझे दीख पड़ता है, जैसा मैंने अभी कहा, मैं नारी हूँ। मैं कोमलता, करुणा, रक्षा, सहानुभूति, आज्ञाकारिता के भाववाली सन्तान उत्पन्न करूँगी। उत्तानपाद की प्रकृति मैं आज से नहीं बहुत दिनों से देख रही हूँ। मुझे वह बहुत उद्धत और स्वतन्त्र लगा है। उसने मेरी कई बार अवज्ञा की है। प्रियव्रत को भी मैं सदा से देखती आ रही हूँ कि वह बहुत सीधा पुत्र है और उसमें सदा से कुछ सोचते रहने का स्वभाव है। उस दिन मेरे ही कहने से वह उत्तानपाद के साथ बाहर गया था कि लड़ाई हो गई।

स्वा० मनु—मुझे तुम्हारी ये बातें बिल्कुल व्यर्थ दीख पड़ती हैं। मैं अब यह सोच भी नहीं सकता।

शतरूपा—आकूती में अवश्य कुछ मेरी छाया है। वह सीधी कन्या है इसलिए वह रुचि-जैसे बातें करने वाले आदमी के साथ चली गई। मैं भी तो इसी तरह तुम्हें देखकर, तुम्हारे बल को देखकर तुम पर मुग्ध हो गई थी। अब मुझे विश्वास है, मेरी ये दोनों सन्तानें देवहूती और प्रसूती आज्ञाकारिणी कन्याएँ होंगी। तुम उद्विग्न मत बनो मनु! मैं तुम्हें जीवन का वास्तविक रूप दिखाऊँगी।

स्वा० मनु—**(उसी भाव से)** यदि सृष्टि उत्पन्न करना ही जीवन है तो मैं जीवन से ऊब गया हूँ। मैं तुमसे ऊब गया हूँ। तर्क, वितर्क, लज्जा, घृणा, ईर्षा और द्वेष का नाम संसार है। मैं संसार से घृणा करता हूँ। **(मुँह फेर लेता है।)**

शतरूपा—नहीं नहीं, तुम मेरी ओर देखो। इधर देखो मनु! जीवन न तो तर्क-वितर्क ही है न लज्जा, घृणा, ईर्षा और द्वेष ही। वह बहुत सुन्दर है। मैं देखती हूँ जैसे मैं सब-कुछ हूँ। मुझ में कुसुमों की सुरभि है, मद की मादकता, वैभव का उल्लास, मोक्ष का सुख, हृदय का आनन्द। हम और तुम दोनों ही तो जीवन हैं। हम दोनों ने प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूती, देवहूती और इस छोटी-सी कन्या प्रसूती को जीवन-दान दिया है। हमने कितनी महान् वस्तु इन लोगों को दी है, संसार को दी है। क्या तुम यह नहीं देख पाते?

स्वा० मनु—मैं तप, ध्यान द्वारा इस विश्व को जानना चाहता हूँ। जिसने इस संसार को बनाया, उसको जानना चाहता हूँ। मैं उत्पत्ति को लात मारकर शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे बड़ी लज्जा अनुभव होती है, जब मैं देखता हूँ कि छोटा-सा प्रियव्रत संसार त्यागकर सन्यासी हो गया है और मैं उसका पिता संसार के बन्धन में पड़ा हूँ।

शतरूपा—इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है। तुम्हें ब्रह्मा ने जो काम सौंपा है, उसी कर्तव्य का तुम पालन कर रहे हो। यह कोई हीन कार्य तो नहीं है। परन्तु मैं तो जितना सोचती हूँ, मुझे ज्ञात होता है जैसे मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही जीवन हूँ, मैं ही मोक्ष हूँ। तुम मेरी ओर देखो। जीवन का नाम आनन्द है। हम लोगों को किस वस्तु की कमी है। कौन सी वस्तु अप्राप्य है। तुम मेरी ओर देखो! (**हाथ पकड़कर अपनी ओर मोड़ना चाहती है**)

स्वा० मनु—(**उसी भाव से**) नहीं, मैं तुम्हारी ओर अब न देखूँगा, मुझे तुमसे घृणा है। तुम में आकर्षण है। न जाने क्यों पहली बार में ही तुमने मुझे अपनी ओर खींचना प्रारम्भ कर दिया। मैं अब स्त्री-मात्र से घृणा करता हूँ। तुम स्त्रियों में एक मद है जिसका अन्त असंह्य है। तुम में लुभावनापन है, जो सहज ही अपनी ओर खींचता है। तुम्हारे शरीर से सुगन्धि उठ रही है। वह मुझे बरबस तुम्हारी ओर आकृष्ट कर रही है। इतने पर भी अपने को रोककर, अपने हृदय को दबाकर, अपने

को मारकर मैं कहता हूँ कि मुझे जाने दो। ब्रह्मा ने मुझे बड़ा धोखा दिया है।

शतरूपा—नहीं मनु, ऐसा न कहो। मैं कहीं की न रहूँगी। मैं मर जाऊँगी। **(रोते-रोते मनु के पैरों पर गिर पड़ती है। मनु उसे पैरों से ठुकराकर चले जाते हैं। देवहूती और प्रसूती रोने लगती हैं।)**

देवहूती—माँ, पिताजी क्यों चले गए?

शतरूपा—क्या जानूँ बेटी, क्यों चले गए। चले गए इतना ही जानती हूँ। थोड़े ही दिनों में न जाने क्या से क्या हो गया? (**पिछली बात याद करके**) ओह कुछ समय पूर्व मैं कितनी प्रसन्न थी? स्वतन्त्र, न किसी की याद थी न मोह था। मनु, तुम्हारे पीछे मैंने उत्तानपाद प्रियव्रत को छोड़ा। क्यों न मैं भी सब-कुछ छोड़कर चली जाऊँ? (**कन्याओं की ओर देखकर**) इन निरपराध कन्याओं को छोड़कर? नहीं, यह मुझसे न हो सकेगा। **(दोनों को उठाकर प्यार से मुँह चूमती है।)**

चौथा दृश्य

[समुद्र के तट पर मनु बैठे हैं। दाढ़ी बढ़ी हुई है। सिर के बाल सफेद हो गए हैं। सामने अपार समुद्र लहरा रहा है, पीछे विशाल पर्वत-श्रेणी है। मनु बैठे सोच रहे हैं।]

मनु—(**सोचते हुए**) यह समुद्र कितना महान्, अगाध, अपार है और ये पर्वत, अपने शिखर से आकाश को चीरने वाले, स्थिर वृक्ष, इन सबकी अपनी परिधि है, सीमा है और ये आकाश—काले, नीले, मटमैले, पीले, धुएँ का एक समुद्र लाल-लाल जीवन की तरह बदलने वाले रंग-बिरंगे। ये सब अपनी-अपनी सीमा लिये हैं। ऊँचाई में, लम्बाई में, चौड़ाई में इन सबकी एक सीमा है परन्तु मनुष्य इनका सौवाँ भाग भी नहीं, लघु-लघुतर, किन्तु उसकी आशाएँ संसार की सब वस्तुओं से बड़ी। समुद्र से भी महान्, आकाश से भी अधिक व्यापक, वृक्षों से भी अधिक

स्थिर, दृढ़ ! उत्तानपाद इस संसार को अपने वश में करना चाहता है, जो शिला के छोटे-से आघात को भी नहीं सह सकता। वह पर्वतों पर अपना साम्राज्य चाहता है। जो वृक्ष की शाखा को भी नहीं छू सकता वह आकाश में उड़ जाना चाहता है। कैसा है यह जीवन ? कितनी आशा, कितनी उमंग है इसमें। मैंने शतरूपा को त्याग दिया। प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूती, देवहूती को छोड़कर आया हूँ, पर न जाने क्यों मुझे दीख पड़ता है जैसे कोई मैंने पाप किया है। मैंने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। मैं एक अभाव-सा क्यों अनुभव कर रहा हूँ। वर्षों तप करते बीत गए। देखता हूँ उसका कोई प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ रहा ? क्या मनुष्य सचमुच सबसे बड़ा है ? इस आकाश से, इस समुद्र से, इन भूधरों से जिनकी छाती पर असंख्यों वृक्ष हैं। असंख्यों शिला-खण्ड हैं, अपार जलराशि जिनके हृदय से गिरा करती है, ज्वालामुखी हैं, ये मूक हैं, निस्तब्ध हैं, शान्त हैं ? पर मनुष्य कितना अशान्त ? इतना तप करने के बाद भी मुझे सन्तोष क्यों नहीं मिल रहा है ? **(उत्तानपाद का एक स्त्री के साथ प्रवेश।)**

उत्तानपाद—(**पिता मनु को बैठा देखकर**) अरे तुम हो ? निकम्मे पिता, तुमने इतना विशाल जीवन प्राप्त करके क्या पाया ? इधर देखो, मैंने पर्वतों पर अपार साम्राज्य स्थिर किया है। पचासों सिंहों से युद्ध करके धराशायी कर दिया है। इन्द्र से युद्ध करके उसकी सेना को मैंने जीत लिया है ! मैं कितना महान् हूँ। हाथियों से युद्ध करके उन्हें अपने चढ़ने का वाहन बनाया है और तुम स्त्री की तरह कोमल, विजित की तरह निःसहाय यहाँ क्या कर रहे हो ? माता कहाँ हैं, प्रियव्रत कहाँ चला गया ! मुझे देखो (**सामने आती हुई एक मनुष्य की छाया देखकर**) यह कौन है मगर की तरह रेंगकर चलने वाला। हाथी की छाया की तरह मस्त (**उधर ही देखकर**) तुम कौन हो रे !

कर्दन—(**अपनी धुन में घूमते हुए उत्तानपाद के पुकारने का कुछ भी ध्यान न करके**) मनु-उत्तानपाद ? पिता-पुत्र, किन्तु दो विरोधी तत्त्व ?

मनु—तुम कौन हो ? एक विशाल छाया की तरह !

कर्दम—(**हँसते हुए**) कर्दम ! कर्दम है मेरा नाम मनु ! यह तुम्हारा पुत्र उत्तानपाद है न ? (**दूसरी ओर देखते हुए**) समुद्र को पार करने की इच्छा वाली चींटी की तरह यह उत्तानपाद !

उत्तानपाद—मूर्ख, तुझे ज्ञात नहीं है, मैं इस पृथ्वी का शासक हूँ। मैंने पर्वतों को रौंदकर, सिंहों को पछाड़कर, हाथियों को कुचलकर एक-छत्र शासन स्थापित किया है।

कर्दम—(**उपेक्षा से**) मनु, तुमने इतना अभिमानी पुत्र क्यों उत्पन्न किया ! यह बालक सूर्य को निगलना चाहता है। क्या मछली समुद्र को पी सकती है ? मनुष्य संसार को स्थिर रखने के लिए उत्पन्न किया गया है मनु !

मनु—कर्दम, तुम ज्ञानी हो। मुझे बताओ, मेरा चित्त इतना अशांत क्यों है ?

उत्तानपाद—पिता, तुमने जीवन को जीवन नहीं समझा। इसीलिए दुखी हो। मुझ में आज बहुत आनन्द है। मैं उत्साह, बल का एक प्रतीक हूँ। इच्छा होती है इस सम्पूर्ण विश्व को मुट्ठी में दबाकर पीस डालूँ। उस दिन अचानक ज्ञात हुआ, इन्द्र देवताओं का एक राजा (**सामने के पर्वत-शिखर की ओर संकेत करके**) सरोवर में विहार कर रहा है। मैं वहाँ पहुँच गया। युद्ध के लिए उसे पुकारा और हराकर उसकी सबसे सुन्दरी अप्सरा को मैं अपने साथ ले आया हूँ। यही मेरा जीवन है। तप, ध्यान कोई भी पदार्थ नहीं है। कर्दम, मैं चाहूँ तो अभी तुम्हें मार सकता हूँ। आओ, चलें प्रिये ! (**स्त्री का हाथ पकड़कर चला जाता है**)

कर्दम—मारने से जीवन देने का काम बड़ा है। मनु, तुमने विधाता की इच्छा के विरुद्ध कार्य किया है, इसीलिए तुम्हें शांति नहीं मिल रही है। तुमने प्रकृति के विधान को तोड़ा है।

मनु—विधाता का विधान क्या इसी में है कि उत्तानपाद-जैसी संतान

उत्पन्न की जाय ?

कर्दम—इन भूधरों पर जो ये वृक्ष उगे हैं यह क्या वे सब ही उपादेय हैं। कुछ काँटेदार, कुछ अच्छे सुगन्धि वाले। कुछ से लाभ होता है, कुछ से हानि। उत्तानपाद को देखकर मेरा भी यही विचार हुआ कि मनु ने इस प्रकार की सन्तान क्यों उत्पन्न की, परन्तु अब विचार बदल गया। मैं देखता हूँ, अच्छे-बुरे का नाम संसार है। यदि एक तरफ उत्तानपाद है तो दूसरी ओर प्रियव्रत भी तो है। शतरूपा आकूती भी तो हैं। मनुष्य स्वतन्त्र प्राणी है, कर्म का फल वह भोगेगा। तुम क्यों चिन्ता करते हो ? मनु, तुम विधाता के वरद पुत्र हो। तुम्हें विधाता ने सृष्टि उत्पन्न करने के लिए ही बनाया है। तुमने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया इसीलिए तुम अशान्त हो, भ्रान्त हो। तुमने शतरूपा को त्यागकर तप के द्वारा शान्ति प्राप्त करनी चाही इसीलिए तुम्हें तप करने पर भी शान्ति नहीं मिल रही है। कर्त्तव्य संसार में बड़ा है, तप से भी, शक्ति से भी।

मनु—तुम ठीक कहते हो। मैंने शतरूपा को त्यागकर भूल की। मैं अब उसका प्रायश्चित्त करूँगा। जाता हूँ कर्दम, मैं जाता हूँ। अरे, उठा क्यों नहीं जाता ?

कर्दम—हाँ जाओ और कर्तव्य का पालन करो। विधाता ने जो काम तुम्हें सौंपा है, उसे पूरा करो। इसी से तुम्हारा जीवन सार्थक होगा।

मनु—(**जाता हुआ लौटकर**) विधाता ने मुझे ही यह काम सौंपा है, मैं नहीं मानता। तुम्हें भी यह कार्य सौंपा होगा, तुम तो मानस-सन्तान हो।

कर्दम—(**सोचकर**) मुझे, नहीं मनु, मुझसे यह काम नहीं हो सकता। मैं तो मरीचि की मानस-सन्तान हूँ निर्द्वन्द्व, निस्पृह।

मनु—तुम असत्य कहते हो। तुम्हें भी वही भार दिया गया है।

कर्दम—असत्य, मैं असत्य क्या जानूँ। असत्य क्या होता है, यह मैं आज तक न जान पाया।

मनु—तुम भी तो कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे कर्दम !

कर्दम—मानस-सन्तान उत्पत्ति नहीं कर सकती। हम तो विधाता के विफल प्रयत्न हैं मनु !

मनु—रुचि ?

कर्दम—रुचि भी नहीं। मानस-पुरुष तो कल्पना है, क्रिया नहीं। इसके लिए तो तुम्हीं उपयुक्त हो मनु !

मनु—मैंने ठेका नहीं लिया है ऐसा करने का। ब्रह्मा जाने और उसका काम। मैं फिर तप करूँगा (**एक युवती का प्रवेश**) तुम कौन हो ? यहाँ क्या करने आई हो ?

युवती—वह रुचि, रुचि न जाने कहाँ चला गया मुझे छोड़कर। मैं तब से उसे ढूँढ़ रही हूँ। वह कहाँ चला गया ? बता सकते हो ?

मनु—(**ध्यान से देखकर**) कौन ? आकूती ?

युवती—(**मनु की ओर ध्यान से**) तुम कौन मनु ?

कर्दम—रुचि। व्यर्थ है मानस-सन्तान।

मनु—हाँ, मैं मनु हूँ।

आकूती—(**दौड़कर पिता से लिपट जाती है**) मनु, तुम्हें क्या हो गया ? (**आश्चर्य से देखकर**) तुम्हारे सब बाल सफेद हो गये। तुम्हें क्या हो गया पिता !

मनु—(**उसी भाव से**) समय के प्रभाव से सब होता है। मैं न जाने किधर जा रहा हूँ। रुचि कहाँ चला गया ?

आकूती—जाने कहाँ चला गया मुझे छोड़कर। एक प्रातः उठकर चला गया। कुछ दिनों से न जाने उसे क्या हो रहा था। जैसे मेरा बन्धन शिथिल पड़ गया हो। उठते-बैठते ध्यान में मस्त रहता था। मैंने बहुत चाहा कि मुझसे पहले की तरह बातें करे। हँसे, मेरा आलिंगन करे, परन्तु न जाने उसे क्या हो गया। तब से उसे ढूँढ़ रही हूँ। नर इतना निर्दय है यह मैं न जानती थी।

कर्दम—सुना मनु ? नर इतना निर्दय है।

मनु—यह नारी का स्वाथ है जो उसे निर्दय कहता है।

कर्दम—कैसे ? (**लकड़ी टेके शतरूपा का प्रवेश**)

शतरूपा—नारी का स्वार्थ ? नारी में क्या स्वार्थ है मनु, तुमने मुझे छोड़कर क्या पाया, मैं तुम्हारे मार्ग में कब बाधा बनी, मैंने तुम्ह क्या नहीं दिया ?

मनु—तुम आ गईं ?

आकूती—माँ, (**लिपट जाती है**) माँ, अरे तुम बूढ़ी हो गईं ? तुम्हारा रूप बिगड़ गया है। शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, फिर भी न जाने तुम और पिता मनु मुझे क्यों अच्छे लगते हैं। कभी-कभी तो रुचि से भी अधिक प्यारे। माँ, रुचि मुझे छोड़कर चला गया, न जाने कैसा निर्दय है वह ?

मनु—माया है, छल है, भ्रम है ! कोई किसी का नहीं।

शतरूपा—हो सकता है।

कर्दम—मैं जाता हूँ। मेरा मन ऊब रहा है। ऐसी बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।

शतरूपा—मैं न नर को बुरा कहती हूँ, न नारी को। न नर स्वार्थी है, न नारी। दोनों संसार के दो स्तम्भ हैं। नर यदि सूर्य है, दिन है, जिससे संसार को आलोक मिलता है तो नारी चन्द्रमा है, रात है जो मनुष्य को अंधकार में प्रकाश का मार्ग दिखाती है। वह अंधकार भी है तो सब पापों को भुला देने के लिए। प्रायश्चित्त की निद्रा में सब-कुछ धो डालने के लिए। तुम्हें नारी से घृणा है, परन्तु उसने घृणा नहीं सीखी। उसके पास प्यार है, स्नेह का समुद्र है, करुणा है, दया है, माया है, ममता है जिससे वह मनुष्य को भिगो देना चाहती है, उसे सुखी बनाना चाहती है। रुचि आकूती को छोड़कर चला गया, परन्तु आकूती उसके लिए दुखी है। रुचि क्यों नहीं दुखी हुआ। इसीलिए कि उसके हृदय में वास्तविक प्रेम नहीं है। परन्तु वह अकेला नहीं रह सकता। उसे फिर आना पड़ेगा। उसका निर्वाह नारी के बिना नहीं हो सकेगा। यदि संसार में

रहना है, चलना है, दौड़ना है, तो दो पैरों से ही चला जा सकता है, दौड़ा जा सकता है। इसीलिए हमें दो पैर मिले हैं, दो हाथ मिले हैं, दो आँखें मिली हैं, दो कान मिले हैं। कोई अकेला संसार में कुछ नहीं है।

मनु—शतरूपा, तुम इतनी उत्पत्ति करके दुखी नहीं हुईं, इसी का मुझे आश्चर्य है।

शतरूपा—मुझे कोई दुःख नहीं है। तुम मुझे छोड़कर चले आए, परन्तु मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती।

कर्दम—ऐसी बातें तो मैंने कभी नहीं सुनी थीं।

आकूती—न जाने माँ, तुम मेरे हृदय की बातें ही कर रही हो ?

शतरूपा—उत्तानपाद इतना उद्दण्ड, उद्धत, अभिमानी यहाँ से लौटकर घायल होकर मेरे पास आया। वह हाथियों से लड़ते-लड़ते लहू-लुहान हो गया था। मूर्च्छा की अवस्था में उसने मुझे याद किया। उसकी पत्नियाँ उसे मेरे पास ले आईं। मैंने उसकी सेवा की। उसको प्यार किया। वह ठीक हो गया। मेरे पास प्रेम के सिवा और है ही क्या, नारी के पास यही है मनु ? अब तुम बूढ़े हो गये हो। सब बाल सफेद हो गये हैं। तुम्हारा शरीर शिथिल हो गया है। चलो मैं तुम्हारी सेवा करूँगी। तुम तप कर चुके। जो कुछ होगा, वह पीछे नहीं हट सकता। मुझे इसका कोई दुःख नहीं है! मैं ही सृष्टि हूँ मनु! मैं ही सृष्टि का सत्य ?

मनु—(**प्रभावित-सा होकर**) विचित्र बात है। उत्तानपाद-जैसा लड़का लौटकर तुम्हारे पास आया ?

कर्दम—सृष्टि का यह रूप मैं आज ही देख सका हूँ। शतरूपा, तुम धन्य हो।

मनु—कर्दम, क्या तुम्हें इसमें कोई नई बात लगती है ?

कर्दम—सब-कुछ नया है। नारी की उपयोगिता को मैं बहुत बड़ा मानता हूँ।

शतरूपा—प्रियव्रत घर लौटकर आ गया है। उसने प्रसूती के साथ रहना स्वीकार किया है।

मनु—**(आश्चर्य से उछलकर)** प्रियव्रत भी आ गया ?

शतरूपा—उत्तानपाद के तीन सौ पुत्र हुए हैं। उसने एक पहाड़ के ऊपर अपना स्थान बनाया है।

मनु—सब नया सुनाई दे रहा है। **(उठते हैं, पर जैसे उठा नहीं जाता फिर बैठ जाते हैं)** पैरों को न जाने क्या हो गया ? चलते हुए अँधेरा छा जाता है आँखों के सामने।

शतरूपा—**(मनु के पैरों को मसलती हुई)** तुम्हारी अवस्था ही ऐसी है। **(कन्याएँ सेवा करती हैं थोड़ी देर के बाद)** खड़े हो जाओ। **(हाथ पकड़कर खड़ा करती हैं)**

मनु—नहीं, अब मैं न चल सकूँगा। मुझे उस दिन वाली हरिणी की सुध आ रही है। वह उसका मरण ! **(एकदम लड़खड़ाकर गिर जाते हैं। कर्दम, आकूती, शतरूपा उन्हें सँभालती हैं। उनका उपचार करती हैं। कोई मुँह में जल डालता है, कोई हाथ-पैर दबाता है, किन्तु मनु धीरे-धीरे प्राण त्याग देते हैं ! सब आश्चर्य, शोक से मनु को देखते रहते हैं। प्रियव्रत, उत्तानपाद और बहुत से व्यक्ति आकर देखते हैं।)**

सब—पिता को यह क्या हुआ माँ ?

शतरूपा—मनुष्य का यह अन्तिम रूप है बेटा। आदिम-युग के प्राणी का यह अन्तिम रूप।

शतरूपा—यह मृत्यु है, उस दिन एक हरिणी की मृत्यु देखी, आज मनु की। ब्रह्मा ने कहा था यह मृत्यु है। मैं उस दिन मृत्यु को ठीक-ठीक नहीं समझ सकी थी। आज देखती हूँ मृत्यु आवश्यक है। यही एक भय है जो मनुष्य को अहंकार से दूर रखता है, फिर भी मैं नहीं जानती यह क्या है ? **(मनु के शरीर पर गिर जाती है। सब शतरूपा को उठाते हैं)**

प्रियव्रत—**(ध्यानमग्न)** मैंने इतना तप किया किन्तु मैं इसको

न जान सका।

उत्तानपाद—यह तो एक बड़ा भय है जिसका आगा-पीछा कुछ दिखाई नहीं देता। अनेक प्राणियों का नाश करते हुए मुझे उनकी मृत्यु ने इतना प्रभावित नहीं किया जितना कि आज पिता की इस मृत्यु ने। आज मेरा संपूर्ण अभिमान टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा है।

कर्दम—यह भयंकर होते हुए भी आवश्यक है। जैसे हरे-भरे वृक्ष का सूखकर ठूँठ हो जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार मृत्यु भी अनिवार्य है।

प्रियव्रत—किन्तु सृष्टि की यह बात तो बहुत बुरी है। सृष्टि के साथ विनाश की यह पूँछ लगाकर विधाता ने बड़ी भूल की है!

कर्दम—'भूल', तुम इसे भूल कहते हो। यह भूल नहीं है। यह न हो तो संसार नरक बन जाय। उत्पात, उपद्रव, मार-काट का अन्त ही न हो।

सब—कैसे, कैसे? यह तो विचित्र बात है।

कर्दम—सुनो, मृत्यु न होने पर सभी प्राणी जीवित रहेंगे। और आज नहीं सहस्र वर्ष बाद यह सृष्टि प्राणियों से भर जायगी, रहने को स्थान, करने को भोजन, पीने को जल, पहनने को वस्त्र सभी वस्तुओं का अभाव बढ़ता जायगा! सदा जीवित रहने के कारण सब प्रकार के स्नेह का भी अभाव हो जायगा। उस समय सृष्टि का क्या रूप होगा इसकी कल्पना कर सकते हो?

शतरूपा—किन्तु मेरा स्नेह तो सदा ही मनु के प्रति एक-सा रहता?

कर्दम—असंभव है! मनु ने अपने जीवन का जो अनुभव तुमको दिया है उससे लाभ उठाओ। प्राणी का जीवन के प्रति प्रयत्न में जो संचित विवेक है, वही मनुष्य की निधि है। उसे लेकर आगे बढ़ो, चलते चलो। मनुष्य का अनुभव भविष्य के अंधकार का आलोक है उसी प्रकाश से अपना मार्ग बनाओ। यही मनु का आदेश है।

शतरूपा—कर्दम, तुमने हमारी आँखें खोल दीं। तुम धन्य हो !

उत्तानपाद—हम लोग मनु के बताये मार्ग पर चलेंगे। पिता के आदेश का पालन करेंगे। संसार में सुख है, हम सुख खोजेंगे।

प्रियव्रत—सृष्टि अमृत है। हम अमृत प्राप्त करेंगे।

शतरूपा—इस सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है, उसको खोलो। तुमको सत्य, धर्म का ज्ञान होगा।

सब—आदि पिता मनु की जय ! स्वायंभुव मनु की जय !

[जय घोष में परदा गिरता है]

२

प्रथम-विवाह

(प्रारम्भिक आर्य-संस्कृति का चित्र)

पात्र-परिचय

काद्रवेय	परिवार-पति
काद्रवेयी	जन-नायिका
ज्येष्ठ काद्र	काद्र परिवार
मध्यम काद्र	,, ,,
कनिष्ठ काद्र	,, ,,
मध्यमा काद्रा	युवती
उषा काद्रा	युवती
विश्व पञ्चजन	पञ्चजन-परिवार
रुद्र पञ्चजन	,, ,,
वरुण पञ्चजन	पञ्चजन-परिवार-पति

[स्थान—हिमालय की उपत्यका, देवदारु की लकड़ी और भोजपत्र से छाया हुआ एक कुटीर। बीच में धुआँ निकलने का एक छोटा-सा मार्ग। कुटीर के बाहर आग जल रही है। उसके चारों ओर भोजपत्र के आसन बने हैं। कुटीर के बाहर का भाग समतल है। जिस समय की हम कथा लिख रहे हैं, उससे पूर्व मनुष्य-जाति घूमती-फिरती थी। कभी एक स्थान पर और कभी दूसरे स्थान पर। गोत्रों, परिवारों के रूप में पशुओं के साथ कभी-कभी ये दो-एक मास के लिए ठहर भी जाते थे। इस समय तक कन्द-मूल के साथ ये लोग पशुओं को मारकर खाना भी सीख गये थे। पहले-पहल वृक्षों की शाखा, तत्पश्चात् पत्थर आदि के परशु, खाँडे बनाने लगे थे। भोजपत्र और चमड़े का परिधान ही प्रधान

रूप से व्यवहार में आता था; क्योंकि मनुष्यों के रोग धीरे-धीरे कम होते जा रहे थे। वे एक तरह से इन्द्रियों की वृत्ति को समझने लगे थे। स्त्री-पुरुष के भेद तथा सर्दी के कारण उन्होंने वस्त्र धारण करना स्वीकार कर लिया था। तात्पर्य यह कि नंगा रहने में लज्जा-जैसी भावना का उनमें उदय हो गया था। राग-द्वेष नाम की दोनों भावनाओं में परस्पर सद्-भावना-राग का प्राधान्य था, और द्वेष-क्रोध की भावना पशुओं को मारने और उनसे अपने को बचाने में थी। कभी-कभी पुरुषों में परिवार की जन-नायिका के कारण संघर्ष हो जाता था। यही नहीं, नायिका भी अपनी रुचि से विवश होकर कभी एक को और कभी दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखने लगती थी। इससे पुरुषों में जहाँ स्त्री का प्रेम पाने की तीव्रता उत्पन्न हो रही थी वहाँ दूसरे के प्रति वैमनस्य भी झलकने लगता था। फिर भी उस समय तक मनुष्य जाति अपने हृदय के भावों को छिपाने, झूठ बोलने तथा छल करने की प्रक्रिया नहीं जानती थी। उस समय स्वाभाविक गति से मनुष्य का विकास हो रहा था। इन्द्रियाँ भूख, प्यास, नींद की तरह उत्तप्त होने पर तृप्ति पाती थीं। एक बात और, मनुष्य अनादि काल से सुरा-सोम, मैरेय, मधुमद आदि न जाने कैसे-कैसे मद पीने का आदी हो रहा था। उस समय भी इसका काफी प्रचार था। शहद की सुरा उस समय बनाई जाती थी, द्राक्षा सुरा भी उस समय थी, इसने मनुष्य जाति को भड़काने, उत्तेजित करने में अधिक सहायता दी, अन्यथा उसके विकास में कदाचित् इतनी शीघ्रता न आती। हमारा आशय इससे इतना ही है कि मद ने उसकी इन्द्रियों को उत्तेजित किया। पुरुषों के शरीर गोरे और दृढ़ थे। मांसपेशियाँ उभरी हुई, सुँते हुए शरीर कठोर और सुन्दर, कमर में चमड़ा या भोजपत्र का परिधान, शेष शरीर खुला हुआ। स्त्रियाँ भी वैसे ही परिधान में, किन्तु चर्म का उत्तरीय, जिसमें भीतर की तरफ भेड़ों के बाल और बाहर की तरफ चमड़ा। समय—संध्या, सूर्यास्त से कुछ पूर्व। जन—वृद्ध काद्रवेय, कन्धे पर गौ की बछिया, जो थोड़े समय पूर्व बन में

उत्पन्न हुई है, लादे आ रहा है । उसके पीछे जन-नायिका काद्रवेयी लकड़ी का गट्ठर लिये चली आ रही है । उसके पीछे उसकी तेरह साल की लड़की है, उसके सिर पर भी कन्द खण्ड है । काद्रवेय बछिया को आग के पास लाकर खड़ा कर देते हैं । काद्रवेयी लकड़ी और लड़की कन्द उठाकर कुटीर के एक कोने में रख देती है । काद्रवेयी कन्द खण्डों को एक-एक करके आग में डालती है । लड़की चमड़े की मशक उठा कर बाहर चली जाती है । बुद्ध आग के पास बछिया के शरीर पर हाथ फेरता हुआ—]

काद्रवेय—तूने सुना, काद्रवेयी ?

काद्रवेयी—क्या ?

काद्रवेय—ज्येष्ठ काद्र कह रहा था, हम अब यहीं रहेंगे ।

काद्रवेयी—क्यों ?

काद्रवेय—इसलिए कि घूमते रहना व्यर्थ है । एक जगह रहने से ठीक होगा । कृषि करेंगे । सब-कुछ बिगड़ा जा रहा है, काद्रवेयी, हम लोग सदा से घूमते रहे हैं । जिस दिन घूमना छोड़ देंगे, उस दिन घूमना न जाने कैसा होगा । मैं बार-बार कहता हूं, अब आगे बढ़ो, मुझसे तो अब एक जगह रहा नहीं जाता, दिन भर बार-बार वही देखते रहना, वही सरित्, वही पर्वत, वही भूमि, वही सब-कुछ ।

काद्रवेयी—(**चमड़े का परिधान सींती हुई । पहले नोंकदार लकड़ी से छेद करती है, फिर चमड़े का डोरा पिरोती है ।**) यह तो बुरा है, काद्रवेय ! रोज नया दिन आता है, नई रात्रि आती है, नया शशि उगता है, सब नया-नया । फिर हम क्यों एक ही स्थान पर रहें ?

काद्रवेय—मध्यम काद्र भी यही कहता है, और कनिष्ठ भी यही ! उषा क्या चाहती है, और मध्यमा काद्रा ?

काद्रवेयी—न जाने, पूछा तो मैंने नहीं है । पर उनके चाहने से क्या होता है, जन-नायिका तो मैं हूँ न, जो मैं चाहूँगी, वह होगा । काद्रवेय, जो तू चाहेगा, वही होगा ।

काद्रवेय—(**चुप रहता है**)

काद्रवेयी—(**सींना बन्द करके**) जानती हूँ, काद्रवेयी ! मुझे दिखाई देता है, जैसे हम अब तक रहते आए हैं, वैसे अब नहीं चलेगा। यदि द्वितीय काद्रवेय सिंह से लड़ते न मारा गया होता, तो आज ये क्या इतना सिर उठाते ? ये उसे मानते भी तो बहुत थे। ज्येष्ठ तो उसके लिए अब भी कभी-कभी रो उठता है, यही हाल और दोनों का भी है। मेरा विचार है, विचार ही नहीं निश्चय है कि पुत्र सब मध्यम काद्रवेय की सन्तान हैं, और उषा और मध्यमा तेरी सन्तान हैं। पर मैं तो सबकी हूँ न ? (**फिर सींती है**)

काद्रवेय—हाँ, सो तो है ही, (**हँसता है, काद्रवेयी कन्द निकालकर काद्रवेयी को देती है और आप भी खाती है। काद्रवेय पास ही कोने में रखे चर्म-कादम्ब से चषक में मद निकालकर पीता है।**) तू भी पियेगी ? ले। (**देता है**)

काद्रवेयी—(**पीती हुई एकदम उठकर**) देखूँ, मैरेय हुआ।

काद्रवेय—मैरेय सुरा मुझे अच्छी लगती है। शरीर में नई शक्ति आ जाती है। ऐसा लगता है, मैं इस समय दो-दो सिंहों से लड़ सकता हूँ। पर जाने क्यों, मेरे सिर के केश श्वेत होते जा रहे हैं, दाढ़ी भी।

काद्रवेयी—फिर भी तू मुझे अच्छा लगता है, सभी मुझे अच्छे लगते हैं। कभी-कभी उषा और मध्यमा काद्रा को देखकर लगता है जैसे ये मेरी होती हुई भी मेरे लिए अनिष्ट हैं।

काद्रवेय—क्यों ? वे भी तो तेरी तरह सुन्दर हैं।

काद्रवेयी—बस, यही, यही तो है, जिससे मैं कभी-कभी उन पर क्रोध कर बैठती हूँ।

काद्रवेय—किन्तु क्रोध करने से क्या वे सुन्दर न लगेंगी ? उनका वक्षस्थल कितना पुष्ट होता जा रहा है और रोम-राजी बढ़ती जा रही है, यही शोभा के लक्षण हैं, काद्रवेयी ! किन्तु मैं सोचता हूँ, यह कृषि क्या होती है ? पृथ्वी माता का उदर फाड़कर आहार लेना क्या भली बात है,

वैसे ही हम को किस बात का अभाव है ? यह गोत्र वाले न जाने क्या-क्या कह रहे हैं। उसे वे अन्न कहते हैं।

काद्रवेयी—हाँ, उसे वे अन्न कहते हैं, अन्न की क्या आवश्यकता है, काद्रवेय ?

काद्रवेय—कहते हैं, अन्न ही हमारा जीवन है। सर्वथा नई बातें सुन रहा हूं। अब तक जो हम लोग खाते रहे हैं वही क्या हमारे जीवन के लिए नहीं था ? उषा नहीं आई ?

काद्रवेयी—कभी-कभी सोचती हूँ, क्या सोचती हूं, बताऊँ ? मैं सोचती हूं, यदि मैं ही होती, उषा और मध्यमा काद्रा न होतीं, तो कैसा होता ? न जाने क्यों कभी-कभी ऐसा विचार मुझे आ जाता है।

काद्रवेय—(**रुककर**) न जाने क्यों तू ऐसा सोचती है, मैं तो कुछ भी नहीं सोचता। मैं सोचता हूं, पशुओं से लड़ने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा परिवार बड़ा हो। हमने दो व्यक्तियों को पिछले दिनों में खो दिया—मध्यम और कनिष्ठ को! हाँ, उस समय मुझे कभी-कभी लगता था, यदि वे दोनों कहीं चले जायँ तो कैसा रहे ? सो क्या जाने मेरे सोचने से ही वे चले गये। न जाने मैंने क्यों ऐसा सोचा। पृथ्वी को सिर झुकाकर अब मैं कई बार कह चुका हूं कि अब मैं वैसा नहीं सोचूँगा। तू भी वैसा न सोच काद्रवेयी !

काद्रवेयी—अच्छा ! (**सोती है**)

उषा—(**जल लेकर आती है और एक कोने में रखकर**) सब लोग आ रहे हैं, उनके साथ और भी हैं।

दोनों—कौन-कौन, दुहिता ?

उषा—दूसरे गोत्रज। देखो, वे आ रहे हैं। दूध दुह लिया माँ ? अच्छा मैं दुहती हूं।

[दोनों माँ-बेटी गाय, बकरियों का दूध दुहने बाहर चली जाती हैं। काद्रवेय मैरेय निकालकर पीता रहता है, इसी समय तीनों काद्र, दो गोत्रज और उनके साथ एक कुमारी आती है। 'द्यावाजय' 'पृथ्वीजय' की

आवाज लगती है।]

काद्रवेय—आओ, आओ नए गोत्रज, स्वागत !

[सब के हाथों में बड़े-बड़े वंश तथा कर्करी हैं]

ज्येष्ठ काद्र—देखो, ये नये गोत्रज हैं, हमारे पड़ौसी पंचजन।

काद्रवेय—पंचजन क्या, ज्येष्ठ काद्र ?

नया गोत्रज—हम लोगों का परिवार 'पंचजन' कहलाता है, काद्रवेय ! बहुत दिनों से हम लोग यहीं हिमालय की उपत्यका में रहते हैं। हम लोग व्रीहि-कृषक हैं।

काद्रवेय—व्रीहि-कृषक क्या ? मैं समझा नहीं।

नया गोत्रज—शालि एक प्रकार का धान्य होता है, उसी को हम लोगों ने आहार बनाया है। आगे-आगे बढ़ते जाओ, तुम्हें नई लहलहाती व्रीहि की कृषि दिखाई देगी—और गोधूम की भी।

काद्रवेय—इस स्थल में आए मुझे चार शुक्ल पक्ष बीत गए, सम्भव है, अधिक बीते हों, मैंने देखा, यहाँ के लोगों ने अपनी प्राचीन प्रथाओं को तोड़ दिया है। हम लोग सदा घूमते रहते हैं, तुम लोग एक स्थान पर बस गए हो। हम कन्द-मांस खाते हैं, तुमने अन्न उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है। सब नई-नई बातें सुनता हूं, भ्रातर !

दूसरा गोत्रज—नया-नया ज्ञान, नया-नया दिन, नई-नई रात्रि, नया-ही-नया तो है, काद्रवेय !

काद्रवेय—हम लोग नई पृथ्वी देखना चाहते हैं। एक स्थान पर रह-कर तो नया नहीं हो सकता, पंचजन ? नया देश देखो। जैसे दिन का देव घूमता रहता है, क्यों न हम लोग भी चलते रहें ? नदी चलती है, झरने चलते हैं, रुक जाना बुरा है, पंचजन !

प्रथम गोत्रज—हाँ, रुक जाना बुरा है; किन्तु सोचकर चलना ही अच्छा है। हम लोग अब तक व्यर्थ ही भ्रमण करते रहे हैं। वस्तुतः हमारे पूर्वजों ने एक जगह स्थिर होने के लिए ही भ्रमण किया था। जैसे दिन चलकर सप्ताह में समाप्त हो जाते हैं और सप्ताह मास में, उसी

यहाँ आकर इतने मनुष्यों को परिवार में देख रही हूं। बैठो, तुम लोग तो बड़े सुन्दर हो !

उषा काद्रा—(**प्रथम गोत्रज से**) आज तुम मेरे साथ नृत्य करना भला। (**उसका हाथ पकड़ लेती है।**)

मध्यमा काद्रा—मैं तुम्हारे साथ (**द्वितीय गोत्रज के साथ**) नृत्य करूँगी, आज बहुत सुन्दर होगा।

ज्येष्ठ काद्र—मैं विश्ववारा के साथ नृत्य करूँगा।

मध्यम और कनिष्ठ—नृत्य हमें प्रिय नहीं है, हम दुन्दुभि बजायेंगे।

[**चन्द्रमा निकल आता है। काद्रवेयी सब को बैठाकर कन्द देती है और क्षीर-चषक पिलाती है। इसके बाद काद्रवेय मैरेय सुरा सब को पिलाता है। इसी बीच में खाते-खाते लोग 'हो-हो' करके गाने लगते हैं। गोत्रज कर्करी (वंशी) बजाते हैं। मध्यम और कनिष्ठ काद्र दुन्दुभि बजाते हैं। सब नाचते हैं। नाचते रहने पर 'हो-हो' की ध्वनि से सारा प्रदेश गूँज उठता है। हो ओ-ओ हो-इ हो ही-हो इ बस, यही उदात्त-अनुदात्त युक्त स्वर है। इसे बार-बार दुहराये जाते हैं। कभी-कभी दुन्दुभि रोक केवल कर्करी ही बजता है। इसी प्रकार नाचकर सबके बैठ जाने के बाद वे फिर मैरेय पीते हैं, इसी समय**]

विश्व पंचजन—काद्रवेय, मुझे आज्ञा हो, मैं मध्यमा काद्रा से विवाह करना चाहता हूँ, यह मुझे प्रिय है।

काद्रवेय-काद्रवेयी—पाणिग्रहण करो भ्रातर, विवाह हम नहीं जानते। विवाह क्या होता है? यह नई बात है।

विश्व पंचजन—हमारे प्रपितामह वरुण पंचजन की आज्ञा है कि प्रत्येक युवक प्रत्येक युवती से विवाह के बिना नहीं मिल सकता।

[**काद्रवेय-परिवार के लोग आश्चर्य से चुप रहते हैं।**]

विश्व पंचजन—विवाह का अर्थ है उस युवक का केवल विवाहिता युवती के साथ रहना। वह और किसी के साथ नहीं रह सकता।

काद्रवेयी—नहीं, यह नहीं हो सकता। यह नई बात हमारे परिवार में

नहीं हो सकती। इसका अर्थ तो यह हुआ कि मध्यमा इन काद्रों के साथ नहीं रह सकती। यह नहीं हो सकता काद्रवेय!

काद्रवेय—नहीं, ऐसा नहीं होगा। मेरे परिवार का नाश हो जायगा। नहीं भ्रातर।

मध्यमा काद्रा—मुझे विश्व पंचजन प्रिय लगता है, काद्रवेयी माँ! मैं और कहीं नहीं रह सकती। मैं उसी के साथ जाऊँगी।

काद्रवेय—मैं सब नई-नई बातें सुन रहा हूँ। क्या इस प्रदेश में आने से हम लोग अपनी पुरानी चली आई प्रथा को तोड़ देंगे?

ज्येष्ठ काद्र—अब तक हम लोग अकेले परिवार के साथ रहते थे। यहाँ हमारी तरह के बहुत से परिवार रहते हैं। इन चार पक्षों में मैंने घूम-घूमकर ये परिवार देखे हैं। कितने सुखी हैं ये। कितने सम्पन्न हैं ये। फिरते रहना हमको स्वीकार नहीं है। वरुण पंचजन के पास बैठकर मुझे बहुत सी नई बातें ज्ञात हुई हैं। हम मिलकर एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं, अपनी उन्नति कर सकते हैं। हमें आगे बढ़ना है।

काद्रवेय—आगे बढ़ना है, तो बढ़ो। चलो, आज ही हम लोग सब लेकर चलते हैं।

विश्व पंचजन—आगे बढ़ने का अर्थ उन्नति करना है, काद्रवेय! घूमना नहीं।

काद्रवेय—हमको ज्ञान की क्या आवश्यकता है? हमारे पास क्या नहीं है?

ज्येष्ठ काद्र—हम देवों के बारे में कुछ नहीं जानते। वरुण पंचजन कह रहे थे सूर्य हमारा देव है, चन्द्रमा हमारा देव है, पृथ्वी हमारी देवी है, द्यावा हमारा देव है।

काद्रवेय—सूर्य और चन्द्रमा हमारे देव हैं! नई बात है।

ज्येष्ठ काद्र—हम लोग भी किसी गोत्र में मिलकर रहेंगे। वह हमारी रक्षा करेंगे। हम लोग नए वस्त्र बनाएँगे। मैंने एक गोत्र के मनुष्यों के पास फेंककर मारने वाले अस्त्र देखे हैं। क्या कहते हैं उनको विश्व?

विश्व—व्रण।

ज्येष्ठ काद्र—वही हमको चाहिए। कृषि के द्वारा जो अन्न उत्पन्न होगा, उसे हम खायेंगे। उसका तुष् हमारे ये पशु खायेंगे। कितना सुख होगा, पिता काद्रवेय! यह देखो, यह अन्न मैं लाया हूँ (**थोड़ा-सा निकाल कर दिखाता है। सब लोग आश्चर्य और उत्सुकता से देखते हैं**) खाकर देखो। (**काद्रवेय का परिवार खाता है।**)

सब—सुन्दर है। हम और भी खायेंगे।

मध्यमा काद्रा—इन परिवारों के घर कितने सुन्दर हैं। इनके पास चर्म-परिधान भी तो सुन्दर हैं। मैं विश्व के परिवार में रहूंगी, काद्रवेयी!

काद्रवेयी—तू क्या मुझे छोड़कर चली जायगी, काद्रा? कल को उषा भी चली जायगी इस तरह तो। फिर हम लोगों का परिवार समाप्त न हो जायगा? मैं बूढ़ी हूं, मैं कहाँ तक तुम लोगों का निर्वाह कर सकूँगी? काद्र!

ज्येष्ठ काद्र—मैं विश्वावारा के साथ विवाह करूँगा न? यह मुझे प्रिय है, माँ!

काद्रवेय—इस अदल-बदल से तो यह अच्छा है कि अपने-अपने व्यक्ति अपने ही घर में रहें।

[**ज्येष्ठ को इसका उत्तर नहीं सूझता, चुप रह जाता है।**]

विश्व पंचजन—वरुण पंचजन कहते हैं कि एक परिवार की कन्या उसी परिवार में नहीं रहनी चाहिए। वे तो एक गोत्र की कन्या का उस गोत्र के ही युवक से विवाह करने के पक्षपाती भी नहीं हैं।

काद्रवेय—सब नया ही नया, भ्रातर कैसे होगा? मैं नहीं जानता, मैं तो इस प्रदेश में आकर भूल-सा गया हूं। विवाह नया शब्द है, नई बात है, कृषि भी नई बात है। काद्रवेयी, यह सब क्या हो रहा है?

काद्रवेयी—यह एक और भी कठिनाई है, उषा जा रही है, मध्यमा जा रही है। एक ओर विश्वावारा आ रही है। ये पुत्र न जाने क्या करने जा रहे हैं, काद्रवेय!

ज्येष्ठ काद्र—नया कुछ भी नहीं है, वरुण पंचजन कहते हैं, हम लोग सदा इस तरह नहीं रह सकते। जहाँ ठहरेंगे, वहीं हमारा समाज बनेगा। हमें उस समाज के लिए अपने को तैयार करना होगा। लड़ाई-झगड़े से बचने के लिए यह आवश्यक है कि एक परिवार की कन्या दूसरे परिवार में जाय। इस तरह आपस में प्रेम बढ़ेगा, समाज सुदृढ़ होगा।

विश्व पंचजन—पिछले दिनों हमारे परिवारों में युवक दूसरे परिवारों की कन्याओं को भगाकर लाते रहे हैं। वरुण पंचजन इसका भी विरोध करते हैं। इससे विरोध बढ़ता है, युद्ध होते हैं। इसीलिए वरुण ऐसा कहते हैं। अब प्रायः परिवारों में दुहितर को भगाकर लाने की प्रथा भी बन्द हो गई है।

उषा काद्रा—मुझे यह अच्छा लगता है, काद्रवेय! उस दिन मैं मध्यमा के साथ एक गोत्र में जा पहुँची। उनका स्थान मुझे अच्छा लगा, वे लोग घर बनाकर रहने लगे हैं। अहो! कितने सुन्दर हैं यहाँ के पुरुष!

मध्यमा—चलते रहने से हम थक गए। एक ही परिवार के लोगों को देखते हम थक गए हैं।

कनिष्ठ काद्र—मुझे यह सब कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जो जहाँ जाना चाहता है, जाय, मैं तो घूमना चाहता हूँ। मैं काद्रवेय पिता के साथ ही रहूँगा।

मध्यम काद्र—मैं चाहता हूं जो होता है, उसे होने दो। विवाह बुरी बात नहीं है। मैं तो देख रहा हूँ, बराबर इसी तरह घूमते रहना कठिन है। हमारे घूमने की सीमा भी है। विश्वावारा के साथ ज्येष्ठ काद्र को मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ। एकान्त में, नदी के तट पर, चन्द्रमा से भरी रातों में वे दोनों बातें करते रहे हैं। मध्यमा काद्रा भी विश्व पंचजन के साथ घूमती रहती है। ये चारों, मालूम होता है, रोके से रुक नहीं सकते। क्या प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चलने का अधिकार नहीं है?

काद्रवेयी—मैं कब चाहती हूँ कि ये विवाह न करें। करें, पर मैं तो काद्रवेय के साथ रहूँगी, मैं इसका साथ नहीं छोड़ सकती। भला यह विवाह होगा कैसे?

काद्रवेय—जैसे भी हो, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मैं रोक भी नहीं सकता! प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार चलने का अधिकार है। मध्यम काद्र की बात मैं ठीक समझता हूँ, वही हम में सबसे समझदार है। मेरे शरीर में अभी बल है। मैं अभी भ्रमण कर सकता हूँ, मैं एक स्थान पर नहीं रह सकता!

काद्रवेयी—मैं भी साथ चलूँगी।

कनिष्ठ काद्र—मैं भी। हाँ, भ्रातर, विवाह करो, मैं देखूँ।

विश्व पंचजन—मैं वरुण पंचजन को लेकर आता हूँ। वे हमारे प्रदेश के, परिवार के, सबसे बड़े पुरुष हैं, वे ही विवाह करायेंगे। **(जाता है)**

उषा काद्रा—यदि उन्होंने न माना तो?

ज्येष्ठ काद्र—उन्हीं की आज्ञा से मैं विश्वावारा के साथ विवाह कर रहा हूँ!

[सब लोग बैठकर मैरेय सुरा पीते हैं। आग बराबर जल रही है]

मध्यम काद्र—(**ऊपर आकाश में चन्द्रमा को देखकर**) यह चन्द्मा कितनी दूर होगा, कादवेय?

काद्रवेय—यह भी तो घूमता रहता है, मध्यम!

कनिष्ठ—भला, इस पृथ्वी का कहीं छोर भी होगा?

काद्रवेय—यह पृथ्वी हमारे घूमने के लिए बनाई गई है। यदि हमको एक जगह स्थिर होकर रहना होता, तो यह छोटी होती।

मध्यम—बड़ा विचित्र है! दिन में सूर्य निकलता है, रात को चन्द्रमा! क्या रात्रि को सूर्य नहीं निकल सकता? नहीं, यह नहीं हो सकता। रात्रि को सूर्य निकलता तो वह रात्रि ही क्यों होती? मैं भी कितना भ्रान्त हो गया। और ये तारे! क्या यह भी दूर होंगे? अवश्य ये चन्द्रमा से भी

दूर होंगे। किन्तु जो आग दूर पर जलती है, वह भी तो तारों जैसी दिखाई देती है। अवश्य तारे इसी तरह आग जलने के चिन्ह होंगे। क्यों काद्रवेय ?

काद्रवेय—मैं नहीं जानता मध्यम, न जाने तू क्या सोचता रहता है।

मध्यम—मुझे चन्द्रमा, रात्रि, नदी, उषा, सन्ध्या आदि को देखते रहना भला लगता है। जैसे यह मुझसे बातें करते हैं।

कनिष्ठ—मुझे भ्रमण अच्छा लगता है। भ्रमण करते रहना, भोजन करना, सुरापान करना।

विश्वावारा—मुझे ज्येष्ठ काद्र से बातें करते रहना।

ज्येष्ठ काद्र—मुझे विश्वावारा को देखते रहना।

काद्रवेय—मैं भ्रमण करता रहा हूँ, वही मुझे अच्छा लगता है।

काद्रवेयी—मुझे तेरे साथ रहना काद्रवेय! पहिले मुझे ये सब अच्छे लगते थे, अब तू ही अच्छा लगता है।

मध्यमा—मुझे विश्व पंचजन प्रिय है।

उषा—मुझे रुद्र पंचजन का आलिंगन। क्यों रुद्र ?

रुद्र—हाँ प्रिये! लो वे वरुण आ गए।

[विश्व के साथ वरुण का आना। वरुण पंचजन की बढ़ी हुई दाढ़ी, भोजपत्र का उत्तरीय, विशाल नेत्र, लम्बी नाक। काद्रवेय से अवस्था में विशेष अन्तर न होने पर भी आकृति में गम्भीरता और तीक्ष्णदर्शिता प्रकट हो रही है। उस महाकाय आकृति के आने पर सब लोग बातें करना बन्द कर देते हैं। केवल काद्रवेय 'स्वागत' करता है। इसके बाद सब स्वागत करते हैं। वरुण पंचजन अग्नि के समीप एक आसन पर बैठ जाते हैं।]

विश्व पंचजन—पितर वरुण, ये काद्रवेय परिवार-पति हैं। ये काद्रवेयी हैं।

काद्रवेय—पितर वरुण, परिवार ने पुरानी प्रथा को तोड़ दिया है।

काद्रवेयी—पितर वरुण, विवाह क्या होता है ?

विश्व पंचजन—पितर वरुण, मैं मध्यमा काद्रा से विवाह करना चाहता हूँ।

वरुण—भ्रातर काद्रवेय, विवाह पशुओं से ऊपर उठे हुए मनुष्य के लिए आवश्यक कार्य है। पशु बिना हाथ के खाते हैं, हम हाथों से भोजन करते हैं। हम हाथ से कई अन्य कार्य करते हैं। इससे सिद्ध है, हम पशु नहीं हैं। इसलिए हम पशुओं की तरह नहीं रह सकते। विवाह पशुता को रोकने के लिए है।

काद्रवेय—मैं कुछ भी नहीं समझा।

काद्रवेयी—मैं कुछ-कुछ समझी हूं, पितर वरुण। हम पशु नहीं हैं, मनुष्य हैं, फिर पशु की तरह नहीं रह सकते। हमें मनुष्य बनना होगा।

काद्रवेय—किन्तु तेरे समझने से मैं कैसे समझ सकता हूं?

काद्रवेयी—यही कि जैसे पशु बिना नियम के एक दूसरे से मिलते हैं, वैसे हम को नहीं मिलना चाहिए। मैं कभी-कभी सोचती हूं, ऐसा हम क्यों करते हैं?

वरुण—(**काद्रवेय से**) यदि कोई काद्रवेयी को तुम्हारे सामने से उठा कर ले जाय, तो तुम्हें······।

काद्रवेय—(**एकदम**) मैं उसे मार डालूँगा, पितर वरुण! यह मुझे प्रिय है। मुझे कनिष्ठ और मध्यम काद्र भी कभी-कभी बुरे लगते थे।

काद्रवेयी—यह मुझे प्रिय है, पितर!

वरुण—ठीक है, तुम्हें बुरा लगेगा। इस बुरा लगने और युद्ध रोकने के लिए आवश्यक है कि युवक-युवती एक-दूसरे को सदा के लिए चुन लें और कोई व्यक्ति उन दोनों के बीच में न आवे, इस चुनने का नाम ही 'विवाह' है।

मध्यमा काद्रा—यह ठीक है। युद्ध रोकने के लिए आवश्यक है कि युवक-युवती एक-दूसरे को सदा के लिए चुन लें। और कोई व्यक्ति उन दोनों के बीच में न आवे, इस चुनने का नाम ही 'विवाह' है।

मध्यम काद्र—यह ठीक है। युद्ध रोकने के लिए यह आवश्यक है।

पितर वरुण ! विवाह इसीलिए आवश्यक है।

काद्रवेय—जब मध्यम काद्रवेय कहता है, तब यह अवश्य ठीक होगा। मैं इसको परिवार में समझदार मानता हूं, पितर वरुण ! किन्तु एक स्थान पर रहना तो किसी तरह भी ठीक नहीं है।

वरुण—हम पशुओं से इसलिए श्रेष्ठ हैं कि हम सोच सकते हैं, वे सोच नहीं सकते।

काद्रवेयी—ठीक तो है, काद्रवेय, वे कहाँ सोच सकते हैं। अरे, वे तो बोलते भी नहीं हैं। सचमुच आज यह बात समझ में आई।

वरुण—मनुष्य इसीलिए श्रेष्ठ है कि वह ज्ञानी है। ये नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु सब मनुष्य के लाभ के लिए हैं, हम इनके लिए नहीं हैं।

काद्रवेयी—बिलकुल-बिलकुल। आहा, क्या सुन्दर बात है, काद्रवेय ! पशु हमारे लिए हैं, ठीक तो है।

वरुण—इन पर्वतों, नदियों, वृक्षों, पशुओं केद्वारा हम बहुत कुछ जान सकते हैं। उनसे लाभ उठा सकते हैं। जब हमारा समाज बढ़ जायगा, तब हम···। तुम ने कुटीर बनाया है, पशु कहाँ बना पाते हैं ?

ज्येष्ठ—विवाह, वरुण पंचजन !

विश्व पंचजन—हाँ, पितर !

रुद्र—हाँ।

वरुण—(**विश्व और मध्यमा काद्रा से ज्येष्ठ काद्र और विश्वावारा से, तथा रुद्र और उषा से**) अग्नि सब को जलाता है, सब को प्रकाश देता है।

दो-दो का युग्म—हाँ, वरुण पितर !

वरुण—यह पृथ्वी हमको धारण करती है।

दोनों—हाँ, वरुण पितर !

वरुण—यह चन्द्रमा हमको रात्रि में प्रकाश देता है, मार्ग दिखाता है।

दोनों—हाँ, पितर !

वरुण—इनको साक्षी करके कहो, तुम सदा एक दूसरे के साथ रहोगे और किसी के साथ नहीं।

दोनों—हाँ पितर, हम ऐसे ही करेंगे।

वरुण—सुख-दुख में।

दोनों—हाँ, पितर!

वरुण—बहुत से पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करोगे?

दोनों—हाँ पितर, बहुत से पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न करेंगे।

वरुण—दोनों पाणि-ग्रहण करो।

दोनों—(**दोनों पाणिग्रहण करके**) वरुण पितर, हम यही कहते हैं!

वरुण—तुम्हारा विवाह हो गया।

काद्रवेयी—अरे काद्रवेय, कितनी अच्छी बातें हैं। क्या मेरा भी विवाह हो सकता है, वरुण पिता?

काद्रवेय—काद्रवेयी, हमको उसकी आवश्यकता नहीं है। यही तो हम बहुत दिनों से करते आ रहे हैं।

वरुण—तुम सब लोग अपनी पत्नियों को लेकर रहो, सृष्टि बढ़ाओ, कृषि करो, सुन्दर-सुन्दर घर बनाओ, पशुओं को पालो, एक दूसरे की सहायता करो।

सब—ऐसा ही करेंगे, वरुण पितर!

मध्यम काद्र—पिता वरुण, यह रात-दिन, उषा-सन्ध्या, चन्द्र, नदी आदि मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। ऐसा लगता है, ऐसा लगता है, जैसे मुझसे ये कुछ कहते हैं, पर मैं समझ कुछ नहीं पाता।

वरुण—मैं भी कुछ समझ नहीं पाता; पर जितना मैं जानता हूँ, वह तुम्हें बताऊँगा, तुम मेरे साथ चलो, मध्यम काद्र।

काद्रवेयी—पिता वरुण, यह मैरेय पियो, लो, तुम सब भी पियो।

[**सब पीते हैं, फिर 'हो-हो' करके गाने-नाचने लगते हैं, कर्करी बजती है।**]

[**परदा गिरता है**]

३

वैवस्वत मनु और मानव

[जल-प्लावन के पश्चात् आर्य-संस्कृति के विकास का एक चित्र]

पात्र-परिचय

मनु	वैवस्वत मनु
इड़ा	मनु की पुत्री, पुरुष वेश में सुद्युम्न
श्रद्धा	मनु की पत्नी
शश्वती	ऋषि-कन्या इक्ष्वाकु की पत्नी
सूनृता	ऋषि-कन्या, शर्याति की पत्नी
अपाला	ऋषि-कन्या
घोषा	,, ,,
अरुन्धती	वशिष्ठ-पत्नी
बुध	इडा का पति

विश्वामित्र, वशिष्ठ, अत्रि, भृगु, अंगिरस, शक्ति आदि ऋषिवर्ग इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र।

वासुकि, चिन्न, अंयोमुख, शंबर, वर्चि, बल आदि दस्यु तथा राक्षस।

स्थान—विपाशा नदी। सिन्धु के दोनों तट।

काल—जल-प्लावन के पश्चात् जब मनु ने देखा कि सृष्टि बड़ी अस्त-व्यस्त है, मनुष्य विशृंखल है, यज्ञों की अव्यवस्था है, सामाजिक व्यवस्था नहीं है उस समय—

पहला अंक

पहला दृश्य

[एक प्रहर दिन चढ़े—आश्रम में मृगछाला पर वैवस्वत मनु बैठे हैं। बढ़ी हुई जटाएँ, दाढ़ी और मूछों से भरा हुआ तेजस्वी मुख। आँगन में वेदी बनी है जिसमें से थोड़ा-थोड़ा धूम उठ रहा है। सामने भोजपत्र के कुछ चौड़े पत्ते हैं जिनमें ऋषि-यज्ञ की वेदी का चित्र बना रहे हैं। लाल चन्दन घिसा हुआ एक दोने में रखा है। सामने सरकण्डे की लेखनी। मनु पत्र पर कुछ गुनगुनाते हुए लिख रहे हैं फिर लेखनी रख कर उसे देखने लगते हैं। फिर लिखते हैं। कुटीर में सिरहाने की ओर की भूमि तकिये की तरह उठी हुई। उसके सामने एक और पत्तों का आसन बना है। एक छोटा आला, जिसमें वन की लकड़ियों के छोटे टुकड़े रखे हैं। ये ही टुकड़े रात को दीप की तरह जलते हैं। दूसरा आसन खाली है। आस-पास कुछ मृगों के शावक घूम रहे हैं। कभी-कभी कोई मृग आकर ऋषि की पीठ से अपना मुख रगड़ने लगता है। ऋषि उसको हटा देते हैं। वह दीवार से जाकर रगड़ता है। इसी समय तीन-चार मृगों के बच्चे और एक मृगी आकर उस कुटीर में एकत्र होकर कूदने लगते हैं। मनु उधर देखते हैं और उनके 'हूँ' करते ही चले जाते हैं। थोड़ी देर बाद एक बहुत बालोंवाली गाय आकर इधर-उधर सूँघती हुई हवनकुण्ड के पास बिखरी हुई सामग्री खाकर बैठ जाती है। कुछ आहट पाते ही फिर उठकर ओझल हो जाती है। इसी समय सिंह के गर्जन की ध्वनि सुनाई देती है और झुण्ड के झुण्ड पशु कुटीर के भीतर घुसने लगते हैं। इतने में बाल-युवक शर्याति आकर उन्हें बाहर निकाल देता है। युवक का अधोभाग मृग-चर्म से ढका, रेखहीन मुख, बड़ी-बड़ी

आँखें, बिखरे बाल। सुन्दर वयस लगभग सोलह वर्ष, किन्तु देखने में पूर्ण बलिष्ठ, कंधे में मूँज का यज्ञोपवीत, कमर में मूँज की तागड़ी। एक कंधे में धनुष, पीछे छाल से बँधे हुए कुछ बेढंगे बाण। मनु बालक को आया जान और पशुओं को भागते देखकर]

मनु—जीवन सबको प्रिय है शर्याति! कदाचित् सिंह के गर्जन से भयभीत होकर ये पशु इधर आ गये।

शर्याति—किन्तु पिता, ये कुटीर हमने अपने लिए बनाए हैं, पशुओं के लिए नहीं। (**पत्र पर यज्ञ की रेखाएँ देखता है**) ये रेखाएँ खूब खींची हैं। क्या हैं ये? (**पास झुककर बैठ जाता है**)

मनु—(**रेखाओं को ध्यान से देखते हुए**) यज्ञ-कुण्ड का चित्र है शर्याति।

शर्याति—आवश्यकता? (**श्रद्धा शर्याति, बेटा शर्याति पुकारती हुई भीतर आ जाती है**) हाँ, माँ, क्या है, देखो, पिता ने यह क्या बनाया है?

श्रद्धा—अरे देख, कोई सिंह इधर आ गया है उससे सम्पूर्ण पशु भाग रहे हैं।

शर्याति—तो क्या वह कुछ कहता है माँ? रात को कुरुप भैया उसे पकड़कर लाये हैं। उसे कुटीर के बाहर एक स्थूल से बाँध दिया है। वही कभी-कभी गर्जता है माँ। मैं यही देखने के लिए आया था कि ये पशु भागे कहाँ जा रहे हैं? (**गर्व में भरकर बाहर निकल जाता है**)

श्रद्धा—मनु, मैं देखती हूँ इस संसार में सब पदार्थों के भीतर एक प्रकार का भय छिपा हुआ है। फूल के विकास के नीचे म्लानता, नदियों में सूख जाने की भावना, पशुओं में हिंसक से भय और जरा। जीवन में मरण। हमको सब वस्तुओं में उनके प्रतिरोध को खोजना होगा। क्रिया को प्रतिक्रिया द्वारा···।

मनु—उनका एक उपाय है, यज्ञ।

श्रद्धा—यज्ञ! क्या केवल यज्ञ मनु?

मनु—हाँ, श्रद्धा! यज्ञ, बृहद् यज्ञ। तुम देखती हो जब से मैंने इसका

प्रचार किया है तब से लोगों में साहस बढ़ गया है। देवताओं जैसा बल आर्यों को प्राप्त हो गया है। अब सब लोग यज्ञ करते हैं। हम लोग निर्बल हैं न ?

श्रद्धा—हाँ, देवता ही तो हमारा बल हैं। देवताओं में विश्वास करो। मनुष्य, मनुष्य…नहीं नहीं। उस दिन…हाँ, उसी दिन तो जब तुमने दो अरणियों के संघर्ष द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया, तभी से मैंने समझा कि तुम्हीं संसार का निर्माण कर सकोगे। उस दिन तुम्हारा तेजस्वी मुख कितना भला लगता था। उसी ने तो मुझे तुम्हारी ओर खींचा है। एक यह कन्या इडा है जो अपना नया पथ बनाए जा रही है। मैं कहती हूँ—'विश्वास कर, देवताओं में विश्वास कर, ये ही तुझे बल देंगे' किन्तु वह माने तब न ?

मनु—यह देखो, मैंने यज्ञ का मानचित्र तैयार किया है। आज से सब किसी को वेदी इस प्रकार बनानी होगी। सब ऋषियों के गोत्रों में जाकर उन्हें सूचना देनी होगी।

श्रद्धा—किन्तु एक बात तो देखो मनु, ये नक्षत्र मुझे रात को कितने सुन्दर लगते हैं। दिन में सूर्य प्रकाशमान होते हुए भी चन्द्रमा के समान मधुर क्यों नहीं लगता ? अरे विवस्वान् के पुत्र मनु, ओह ! तुम कितने भयंकर देवता के पुत्र हो !

मनु—(**यज्ञ के मानचित्र से दृष्टि हटाकर**) भयंकर देवता ? भयंकर क्यों ? श्रद्धा, इडा अब तुम्हारे-जैसी होती जा रही है।

श्रद्धा—तो तुम क्या चाहते हो ? देखो, उस ओर मत देखना। तुम्हीं ने तो नियम बनाया है न ?

मनु—नहीं, मैं वह सब नहीं कह रहा हूँ। मैं कहता हूँ वह तुम्हारे-जैसी रूपवती होती हुई भी तुम से भिन्न दिशा में चल रही है। वह जब देखो, तब कुछ न कुछ सोचती रहती है।

श्रद्धा—यही तो बुरी बात है मनु !

मनु—नहीं, यही तो अच्छी बात है। चिन्तन ही हमारा प्रधान

गुण है ।

श्रद्धा—तो सोचना, प्रतिक्षण सोचते रहना क्या अच्छी बात है ?

मनु—हाँ, सोचना होगा। सोचते रहने के बिना काम भी तो नहीं चल सकता। जब सृष्टि उत्पन्न हुई है तो उसे जीवन भी दिखाना होगा। जीवन वही नहीं है जितना तुमने देखा। जीवन सृष्टि में एक महान् वस्तु है श्रद्धा !

श्रद्धा—मैं तो समझती हूँ जो कुछ हो रहा है उस पर विश्वास करते चलो। उसे बनाते चलो। देवता सब कर देंगे। **(इडा का प्रवेश)**

इडा—देवता सब कर देंगे। देवता क्या कर देंगे ? और देवता सब कर देंगे तो हम क्या करेंगे ? हमारा काम हमको करना होगा पिता, क्या तुम नहीं सोचते कि हमको कितना कार्य करना है ?

श्रद्धा—मैं तो इतना जानती हूँ, काम को जितना बढ़ाया जाय उतना बढ़ता है। किन्तु देवताओं में विश्वास करने, यज्ञ, तप, दान से ही जीवन की सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। मैं प्रतिदिन मंत्रों में यही देखती हूँ। तर्क को मैं अच्छा नहीं समझती। सोचने से तर्क उत्पन्न होता है और तर्क से विभ्रम ।

मनु—देखो श्रद्धा, तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। आज जो मैंने यज्ञ का यह मानचित्र बनाया है, उसे ले जाकर तुम्हें अत्रि, भृगु, विश्वामित्र और वशिष्ठ को दिखाना होगा।

श्रद्धा—यज्ञ के सम्बन्ध में जो तुम कहोगे वह मैं मानने को तैयार हूँ ।

मनु—एक बात और ।

श्रद्धा—वह क्या ?

मनु—आर्यों को एक शृङ्खला में बाँधना ।

इडा—ठीक है। मैं यही तो चाहती हूँ ।

श्रद्धा—किन्तु मुझे इससे भय लगता है। देवताओं ने, वेदों ने, जो नियम बनाए हैं वे ठीक हैं। हमें उनके काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जा सकता है फिर

वे ही हमारे रक्षक हैं तब हम अपनी क्यों चिन्ता करें। यह हमारा कार्य नहीं है मनु ?

इडा—मैं यह कहने आई थी कि विश्वामित्र और वशिष्ठ में जो संघर्ष चल रहा है उसका प्रभाव उनके गोत्रों पर भी पड़ा है। वे लोग भी आपस में लड़ने लगे हैं। एक दूसरे की निन्दा करते हैं। यह क्या अच्छी बात है, पिता ? अभी कल की ही बात है, वशिष्ठ की गायों को विश्वामित्र के गोत्र के कुछ लोग रात्रि को आकर हाँक ले गये। इस पर उनमें युद्ध हो गया। दोनों ओर के कुछ व्यक्ति क्षत-विक्षत हो गये हैं। अब वशिष्ठ गोत्र के व्यक्ति आक्रमण की तैयारी करने लगे हैं। सम्भवतः आज वे लोग उन पर आक्रमण करके उनकी गौओं को हाँक ले जायेंगे। इसका क्या प्रभाव और गोत्रों पर पड़ेगा, यही मैं सोचती हूँ।

श्रद्धा—वे लोग लड़ते क्यों हैं, क्या उनका देवताओं में विश्वास नहीं है ?

मनु—(**मानचित्र हाथ में लिये**) यहाँ तक बातचीत हो गई ? यह आर्य वर्ग के लिए अनुचित है इडा बेटी ?

इडा—इसका प्रभाव दस्युओं पर यह पड़ा है कि उन्होंने आर्य गोत्रों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया है। अभी उस दिन वृषपर्वा की कन्या पौरवा को दस्यु उठाकर ले गये। गौओं को मार डाला। राक्षसों की सहायता से गोत्र के कुछ कुटीरों में आग लगाकर चले गये।

श्रद्धा—यह तो बुरी बात है। देवता आर्यों की रक्षा करें।

मनु—फिर पौरवी का क्या हुआ ?

इडा—कण्व के गोत्र के लोग दूसरे दिन दिन भर घूमते रहे तब कहीं सायंकाल को जाकर कन्या को खोज सके। क्या हम लोगों में कुछ व्यक्ति ऐसे नहीं हो सकते जो सब गोत्रों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले सकें ?

मनु—वर्ण-विभाग की बात मैं कई दिनों से सोच रहा हूँ इडा !

श्रद्धा—यह क्या, वर्ण-विभाग कैसा ? देखो तुम देवताओं के कार्य में

विघ्न न डालो। कहीं वे क्रुद्ध न हो जायँ।

इडा—माँ, तुम भी विचित्र हो। देवता इसमें क्या करेंगे? क्या हमारा कुछ भी काम नहीं है? (**श्रद्धा चली जाती है**)

[**हाँफते हुए शश्वती का प्रवेश**]

आहा! भगिनी शश्वती आई है! कहो क्या समाचार है?

शश्वती—(**मनु को देखकर**) अभिवादन करती हूँ ऋषिवर!

मनु—(**हाथ उठाकर**) कल्याण हो वत्से!

शश्वती—महात्मन्, बल, अयोमुख राक्षस दल-बल के साथ इधर आ रहे हैं। कदाचित् कुछ दस्यु उनको इधर बुलाकर लाये हैं। वह अभी सिन्धु के उस पार हैं। यदि हम लोग समय रहते, युद्ध के लिए तैयार न हुए तो न जाने क्या हो?

[**इक्ष्वाकु का प्रवेश**]

इक्ष्वाकु—पिता, ऋषिसमूह इधर आ रहा है आपके दर्शन करने। लोग बहुत विषण्ण दिखाई देते हैं।

इडा—(**इक्ष्वाकु से**) क्या कई गोत्र के लोग हैं उनमें?

इक्ष्वाकु—हाँ प्रायः सभी गोत्रों के हैं। मैंने जब उनसे पूछा क्या बात है तो वे कहने लगे हमने सुना है दस्यु हम पर आक्रमण करनेवाले हैं। मैंने पूछा पिता मनु इसमें क्या करेंगे? आप सब लोग मिलकर युद्ध के लिए उद्यत हो जायँ।

इडा—तो क्या तुम चाहते हो गोत्र के लोग पिता से परामर्श न करें?

मनु—तो आने देते न बेटा?

इक्ष्वाकु—मैंने उन्हें कब रोका। मैं तो यह पछ रहा था। बात यह है जब वे लोग आपस में लड़ते हैं तब तो तुम्हारी आज्ञा मानते नहीं, आज जब बाहरी शत्रु के आक्रमण का भय हुआ तो तुम्हारे पास आ रहे हैं।

इडा—तुम मूर्ख ही रहे भैया? भला बाहर के शत्रु के आक्रमण के

समय भी क्या हम लोगों को नहीं मिलना चाहिए ?

इक्ष्वाकु—मैं चाहता हूँ एक बार यह विरोधी दल अपने किये का फल भोग तो ले, इसीलिए मैंने उनसे पूछा था।

मनु—नहीं बेटा, यह नीति ठीक नहीं है। गोत्रों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यही तो मैं सोचता हूं इन गोत्रों के लिए भी कोई न कोई नियम तो होना ही चाहिए। मनुष्य का जीवन नदी की धार के समान है केवल तटों-नियमों से ही उसे रोका जा सकता है। उन्हें आने दो।

इडा—आर्यों के वर्ग पर चारों ओर से दुख के मेघ उमड़े आ रहे हैं। किन्तु दुख के कीचड़ में ही सुख का कमल खिलता है।

शश्वती—संघर्ष ही जीवन है ऋषिवर ?

मनु—रात्रि के पश्चात् दिन निकलता है। न केवल यह आर्यों के जीवन का प्रश्न है। इसमें भविष्य के सामाजिक विधानों का निर्माण भी मुझे दिखाई देता है। चलो मैं बाहर मिलूँगा।

दूसरा दृश्य

[समय दोपहर। बलपुर-ग्राम में वासुकि दास की कुटीर का आँगन। सब दास एकत्रित हैं। अयोमुख, द्विमूर्धा, शंबर, वर्चि, बल आदि राक्षस बैठे हैं। विश्वरूपा, इडिविशा, कुयावा आदि स्त्रियाँ भी एकत्रित हैं। किसी के हाथ में नर-मांस, किसी के हाथ में श्वान-अस्थि है। बिखरे हुए बाल। काले रंग, बाहर निकले हुए दाँत। बल कपाल हाथ में लिये उसे बजा रहा है। अयोमुख कुत्ते की पूँछ को चचोड़ रहा है। द्विमूर्धा आँखें बन्द-सी किये अयोमुख की ओर ताक रहा है। शंबर उससे दूर द्विमर्धा को घूर रहा है। वर्चि आकाश में उड़ते हुए पक्षियों के ध्यान में है। इडिविशा कुयावा के हाथ में नर-मांस देखकर ललचा रही है। एकाध बार वह हाथ बढ़ाकर उसे लेना चाहती है तो कुयावा झटककर छीन लेती है। इस तरह सब स्वार्थ में मग्न, खाने में वृत्ति रखे हुए बैठे हैं। वासुकि, चिन्न तथा दो एक अन्य दास भी बैठे हैं।

कुछ लेट गये हैं।]

बल—बन्धुओ, तुमको ज्ञात है कि ये दुष्ट आर्य लोग बराबर वहाँ से (**वर्चि से पूछता हुआ**) कहाँ से, बोलो न, कहीं से भी सही बढ़ते आ रहे हैं। इन लोगों ने नदियों के तट पर अपने (**वर्चि से**) क्या न जाने क्या··· बना लिये हैं? उनमें रहते हैं।

द्विमूर्धा—किन्तु ये हमसे तो कुछ भी नहीं कहते।

वर्चि—नहीं कहते तो न कहें। हमको तो कहना पड़ेगा।

अयोमुख—यह हमारी भूमि है।

शंबर—कल के तुम कहते हो हमारी भूमि है। अभी कल ही तो वासुकि तुम को बुलाकर लाया है। नहीं तो पड़े थे नरक में।

अयोमुख—देख रे, बढ़कर बात मत कर, नहीं तो सर काट डालूँगा।

शंबर—मैं तेरा रुधिर पी लूँगा। तूने ही त्रिजटा को द्विमूर्धा के हाथों सौंपकर मेरा अपमान कराया है।

अयोमुख—(**उठकर**) मैंने, बोल मैंने, शरीर का चर्म खींचकर चबा जाऊँगा कुक्कुर?

शंबर—हाँ तूने, शूकर, गर्दभ कौशिक तूने। कहता है हस्तशृङ्गी को रख ले। क्यों रख लूँ हस्तशृङ्गी को।

वासुकि—देखो, हमने परस्पर युद्ध के लिए तुमको नहीं बुलाया है।

वर्चि—सुनो, सुनो। बल जो कहता है उसको सुन भी तो लेना चाहिए।

सब—अच्छा, हाँ अयोमुख तू ही चुप हो जा भाई। शंबर, तू भी चुप रह नहीं तो अच्छा न होगा।

शंबर—(**अकड़कर**) अच्छा क्या न होगा? अच्छा था ही कब जो अब अच्छा न होगा।

बल—तो मुझे यह कहना है (**कपाल खुजाते हुए**) हाँ, मैं क्या कह रहा था? हाँ, मैं यह कह रहा था कि यह देश हमारा है।

वर्चि—सो तो है ही। मैं अकेला सम्पूर्ण आर्यों को मारकर भगा सकता हूँ।

अयोमुख—और मुझसे पूछो तो ये लोग तो मेरा आहार हैं।

बल—आहार तो हम सभी के हैं।

विश्वरूपा—(**बड़े-बड़े दाँतों पर जीभ फेरती हुई, जिसमें मांस के टुकड़े लगे हैं तथा रुधिर होठों से बाहर चिपट गया है**) कुयावा, तू तो जानती होगी उष्ण रुधिर में कितना आनन्द है। गट गट आहा।

कुयावा—उस दिन मैं आर्यों के बालक को पकड़ लाई। भाई वाह, कितना आनन्द मिला!

बल—हाँ, तो मैं यह कह रहा था, यह हमारा देश है।

वासुकि—यह तो दो बार हो चुका कि यह हमारा देश है।

चिन्न—यदि बल सहस्र बार कहे तो भी यह हमारा देश ही रहेगा। क्यों वासुकि कहते क्यों नहीं? (**वासुकि चिन्न का हाथ दबा देता है**)।

वर्चि—हाँ, सो तो मैं कहता हूँ। आगे क्या हुआ?

वासुकि—होना क्या था? यह सब होने के लिए ही तो हम एकत्र हुए हैं। (**अयोमुख से**) उस दिन तुम से मैंने यही तो कहा था, कि आर्य हमारे शत्रु हैं।

बल—यह हमारा क्या है वर्चि, कि हम देश से शत्रु को निकाल दें।

वर्चि—(**सिर खुजलाकर**) न जाने क्या है?

वासुकि—कर्त्तव्य।

बल—हाँ, कर्त्तव्य है, कर्त्तव्य। हमको सेना एकत्र करके उन पर आक्रमण कर देना चाहिए।

एक—अभी।

दूसरा—अभी नहीं रात्रि को।

बल—हाँ आज रात्रि को! सब लोग बतावें कि उनके पास कितने दास हैं।

वर्चि—हम लोग दास नहीं हैं। दास कहना हमारा अपमान है।

यातुधान कहो।

अयोमुख—राक्षस क्यों नहीं कहते ? मुझे तो राक्षस भला लगता है।

शंबर—मुझसे भी कुछ पूछोगे या अपनी ही कहोगे ?

अयोमुख—तू अभी बच्चा है। अच्छा कह, क्या कहता है ?

शंबर—(क्रोध में) फिर वही। मैं कहता हूँ (**एकदम झपटकर अयोमुख को उठाकर पटक देता है। हस्त-शृंगी, त्रिजटा दोनों शंबर से लिपटकर नोचती काटती हैं। राक्षस दोनों को छुड़ा देते हैं।**)

सब—हाँ, भाई हम लोग दास नहीं हैं। यह आर्यों का दिया हुआ है।

बलि—आज से हम राक्षस हैं, दास नहीं।

एक—मुझे तो 'यातुधान' अच्छा लगता है।

दूसरा—मुझे 'दैत्य'।

तीसरा—मुझे 'दानव'।

बल—हमको एकत्र होकर संग्राम करना चाहिए।

कुछ—क्या उत्तर दें ?

वासुकि—अवश्य।

सब—अवश्य, अवश्य।

एक—भाई वासुकि बड़ा बुद्धिमान् है।

वासुकि—यह सत्य है कि हमारी और तुम्हारी दो जातियाँ हैं। हम इस देश के प्राचीन निवासी हैं। फिर भी हम दोनों का उद्देश्य एक ही है।

एक—(**आश्चर्य में भरकर**) बड़े-बड़े शब्द याद हैं वासुकि ?

दूसरा—मैंने नहीं सुना क्या कहा ?

द्विमूर्धा—उद्देश्य। नहीं समझा। मूर्ख जो हुआ।

वासुकि—मेरे पास दो सहस्र व्यक्ति हैं जो आपके युद्ध प्रारम्भ करते ही सहायता के लिए निकल आयेंगे।

बल—ठीक है।

वासुकि—यह निश्चय करो कि जब तक आर्यों को सिन्धु नदी के उस पार नहीं निकाल दिया जाता तब तक हम लोग बराबर युद्ध करते रहेंगे।

सब—अवश्य।

बल—वैसे तो हम स्वतन्त्र हैं। आज यहाँ कल वहाँ। निशाचर हैं हम लोग।

वासुकि—यदि तुम्हारी सहायता से हमने आर्यों को पराजित कर दिया तो पर्याप्त सोमरस, असंख्य परिमाण में नर-मांस तुमको प्राप्त होगा।

[**सब सोमरस का नाम सुनते ही आनन्द में झूमने लगते हैं**]

सब—हम लोग अवश्य लड़ेंगे। हमको तो आर्यों के यज्ञ से··· (**एक दूसरे का मुँह देखकर**) क्या है ?

एक—न जाने।

दूसरा—वासुकि से पूछो।

वासुकि—द्वेष।

सब—हाँ द्वेष है। उनके ईश्वर से, उनके यज्ञ से, उनके देवताओं से। उनसे।

वासुकि—(**खड़ा होकर**) बन्धुओ, यह हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। हम तुम्हारी सहायता चाहते हैं। हमें विश्वास है तुम लोग हमारी सहायता करोगे। वस्तुतः तुमको भ्रम है कि आर्य लोग तुमको दास कहते हैं। दास वे हमको कहते हैं। उन्होंने हमारे व्यक्तियों को पकड़कर उन्हें दास बनाया है। उनसे सब प्रकार का काम लेते हैं। हमारा कर्तव्य होगा कि हम 'दास' नाम को मिटाकर वास्तविक नाम द्रविड़ रखें। हम लोग द्रविड़ हैं। दास नहीं। (**बैठ जाता है**)

शंबर—हम युद्ध करेंगे। युद्ध करना हमारा कार्य है। आर्यों को पराजित करना भी। वही करेंगे। हम नमुचि, त्वष्ट्रा, अर्बुद, स्वर्भानु, पिप्रु की सन्तान हैं। हमारा धर्म कोई नहीं। हम दानव हैं, राक्षस हैं।

इडिविशा—आर्यों के यज्ञों का नाश कर दो। उनको खा जाओ।

कुयावा—उठो। हमें उनसे कोई द्वेष नहीं है किन्तु वे हमारे आहार हैं। आहार से किसी को द्वेष नहीं होता। मैं कुयावा हूँ। उनके क्षेत्रों का नाश कर दूँगी।

विश्वरूपा—मैं नाना रूप धरकर उनको दुखी करूँगी।

सब—हम वासुकि की सहायता करेंगे।

बल—मेरे पास दो शत राक्षस हैं।

अयोमुख—मेरे साथ पचास।

द्विमूर्धा—मेरे साथ दस।

शंबर—मेरे साथ एक सहस्र।

वर्चि—मेरे साथ पांच सौ।

बल—ठीक है। हमको युद्ध करना होगा। हम युद्ध करेंगे। मेरे मित्र किरात और आकुलि हैं। वे हमारी सहायता करेंगे।

शंबर—एक बात और—हम राक्षसों को यज्ञ करते देखकर ही युद्ध का उत्साह होता है। इसलिए आर्यों के यज्ञ प्रारम्भ करते ही हम युद्ध करेंगे।

वासुकि—क्या इससे पूर्व नहीं?

सब—नहीं। तुम बताओ वे लोग यज्ञ कहाँ कर रहे हैं? हमारे पूर्वज यज्ञ के नाश करने वाले ही प्रसिद्ध हैं।

चिन्न—मैंने सुना है मनु एक बृहद् यज्ञ करने वाले हैं। वैसे साधारण यज्ञ तो वे लोग प्रतिदिन ही करते रहते हैं।

बल—हम उस यज्ञ को चाहते हैं जिसमें बलि हो, जिसमें सोमरस हो।

वासुकि—आप लोग उद्यत रहें मैं सूचना दूँगा। आप सब अपनी सेनाएँ तैयार रखें।

सब—हाँ, अवश्य। (**राक्षस इधर-उधर बिखर जाते हैं। वासुकि और चिन्न तथा उनके कुछ साथी**)

वासुकि—राक्षसों की सहायता से ही हम लोग आर्यों को पराजित कर सकते हैं।

चिन्न—किन्तु ये तो कहते हैं कि यह हमारा देश है।

वासुकि—इनका देश कोई नहीं। और न ये एक जगह ठहर ही सकते हैं। न इनका कोई धर्म है, न उद्देश्य। यह देश हमारा है, हमको यहाँ रहना है इसलिए आर्यों का नाश हमको अभीष्ट है, राक्षसों को नहीं, समझे? कार्य सिद्ध करना चाहिए।

चिन्न—हाँ ठीक है। समझ गया।

तीसरा दृश्य

[वशिष्ठ का आश्रम—ऋषि मृगछाला पर बैठे मंत्र वर्णन कर रहे हैं। उनके गोत्र के स्त्री-पुरुष अपना-अपना आसन बिछाये सुन रहे हैं।]

एक ऋषि—ऋषिवर, सबसे प्रधान देवता कौन है तथा संसार का सुख किससे प्राप्त होता है?

दूसरा—अरे सभी प्रधान हैं। अपने-अपने काय के लिए सभी तो प्रधान हैं।

[एक नया व्यक्ति आकर बैठ जाता है।]

वशिष्ठ—सभी देवता अपने-अपने कार्य के लिए प्रधान हैं भाई! किन्तु अग्नि मुख्य है। देखो, एक मंत्र है जिसका अर्थ यह है—'हे तेजोमय अग्निदेव, तेरे ही कारण मनुष्यों को धन प्राप्त होता है। निर्धन मनुष्य भी तेरी उपासना करके सम्पन्न होते हैं। तेरी पूजा करनेवाले विद्वान् याचक सब देवताओं से धन और उनकी कृपा प्राप्त करते हैं।'[1]

एक—ठीक है ऋषिवर!

---

१. सभर्तो अग्ने स्वनीक रेवान् मर्त्य य आजुहोति हव्यम्।
स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति॥
—ऋ० ७. १. २३.

वशिष्ठ—हम लोगों की ओर से युद्ध करनेवाले इन्द्र हैं। इन्द्र महान् शक्ति हैं, वृत्र का नाश करनेवाले इन्द्र !

आगन्तुक—यातुधान कौन हैं महाराज ?

वशिष्ठ—(**आगन्तुक को देखकर संशय से**) यातुधान, यातुधान राक्षस हैं। यज्ञ में विघ्न डालने वाले। तुम कौन हो ?

आगन्तुक—एक जिज्ञासु हूँ।

एक ऋषि—तो कुछ पूछो न ? देखो ऋषि बड़े ज्ञानी हैं।

आगन्तुक—विश्वामित्र के गोत्र के व्यक्ति कहते हैं—वशिष्ठ ठीक मंत्र-द्रष्टा नहीं हैं। वह बात कहाँ तक ठीक है ?

दूसरा ऋषि—मूर्ख हैं मूर्ख !

तीसरा—तम्हें ज्ञात नहीं है सुदास पहले विश्वामित्र से यज्ञ कराते थे अब पिछले दिनों उन्होंने ऋषि के पुत्र शक्ति से यज्ञ कराया।

चौथा—ऋषि की महत्ता का तो इसी से परिचय हो जाता है कि शक्ति ने पाशद्युम्न के यहाँ सोमरस पान करते हुए इन्द्र को मंत्रों के बल से सुदास के यज्ञ में बुला दिया।

पाँचवाँ—मंत्र का भाव है भाई ! जिसमें शक्ति होगी वही तो कुछ करके दिखा सकेगा। क्यों न विश्वामित्र ने सुदास को रोक लिया।

पहला—स्पष्ट है कि वशिष्ठ ऋषि विश्वामित्र से ऊँचे हैं।

दूसरा—ऊँचे ही नहीं ज्ञानी भी। ऋग्वेद के संपूर्ण सप्तम मण्डल के अर्थ इन्हीं पूर्व ऋषि ने देखे हैं।

आगन्तुक—यह तो ठीक है किन्तु न जाने क्यों वशिष्ठ को यातुधान कहते हैं।

पहला—(**एकदम उठकर**) दुष्ट ! दूर हो !

दूसरा—कौन है तू ?

तीसरा—कोई भी हो जो हमारे ऋषि की निन्दा करता है वह वध के योग्य है। (**वह भागता है—यातुधान यातुधान कहता हुआ। लोग दौड़कर पकड़ लेते हैं। वशिष्ठ क्रोध में भर जाते हैं। थर-थर काँपने लगते हैं।**)

पहला—(**पकड़कर ऋषि के सामने करते हुए**) जो आज्ञा हो इसको दण्ड दिया जाय ?

दूसरा—तुम कौन हो ?

आगन्तुक—मैं आर्य हूँ। विश्वामित्र के गोत्र में रहता हूँ, उन्हीं से मुझे ज्ञात हुआ कि आप यातुधान हैं। विश्वामित्र के एक भक्त ने मुझ से कहा कि वशिष्ठ के सामने जाकर उन्हें 'यातुधान' कहो तो तुम्हें यज्ञ अवशिष्ट सोमरस पान कराया जायगा। मैं चला आया।

वशिष्ठ—(**क्रोध से कुश-जल हाथ में लेकर**) सुनो, मेरे आदि गोत्रज वशिष्ठ पर किसी ने दोष लगाया था। उस समय उन्होंने जो उत्तर दिया वह सुनाता हूँ किन्तु उसका फल तुमको भोगना पड़ेगा।

आगन्तुक—क्या फल महाराज? ऐसा न कीजिये। (हाथ जोड़ता है।)

वशिष्ठ—यदि मैं वशिष्ठ यातुधान (**राक्षस**) हूँ तो आज ही मर जाऊँ। यदि मैंने राक्षस होकर हिंसा की हो तो भी आज ही मर जाऊँ। यदि ऐसा नहीं हूँ तो जो दुर्जन मुझे यातुधान कहता है उसके दस पुत्रों का नाश हो।[1]

आगन्तुक—(**हाथ जोड़कर पैरों पर गिरता हुआ**) क्षमा कीजिये! मुझे तो उन दुष्टों ने बहकाया है। मैं नहीं जानता था। क्षमा कीजिये!

[मंत्र के प्रभाव से एक शक्ति-सी निकलती है और विश्वामित्र गोत्र की तरफ चली जाती है।]

शाप व्यर्थ नहीं हो सकता। इसका फल तुमको भोगना ही पड़ेगा।

(आगन्तुक गिड़गिड़ाता है। वशिष्ठ का क्रोध धीरे-धीरे शान्त

---

१. **अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायु ततप पूरुषस्य।**
अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मा मो घ यातुधाने त्याह ॥
—ऋ० ७, १०४, १५

होता है। आगन्तुक दुखी होकर चला जाता है]

एक—देखा तुमने ऋषि का प्रभाव! अब यह शाप व्यर्थ न होगा।

[एक व्यक्ति का प्रवेश]

नया व्यक्ति—(**वशिष्ठ से**) ऋषिवर! शक्ति को न जाने किसने मार डाला है?

सब—हैं, क्या हुआ, कैसे हुआ? सम्भवतः यह भी विश्वामित्र के दलवालों का काम होगा।

वशिष्ठ—(**घबराकर**) कहाँ है शक्ति?

नया व्यक्ति—यहाँ से पश्चिम की दिशा में एक कोस पर वन में महावट के नीचे, महाराज!

वशिष्ठ—चलो देखूँ तो। मुझे पहले ही सन्देह था। सुदास के यहाँ यज्ञ कराने के फलस्वरूप ही यह अनर्थ हुआ है। न जाने क्यों संघर्ष बढ़ रहा है विश्वामित्र के गोत्र से? (**क्रोध में भरकर**) मैं इसका बदला लूँगा—मैं विश्वामित्र के गोत्र का नाश कर दूँगा। (**वशिष्ठ शीघ्रता से लोगों के साथ चले जाते हैं। सब लोग थोड़ी देर चुप रहने के बाद**)

पहला—बड़ा अनर्थ हो गया। मैं तो उसी समय कह रहा था कि सुदास के यहाँ शक्ति को नहीं जाना चाहिए। देखो, यह विश्वामित्र के दल का काम है, हम उनको दण्ड देंगे।

दूसरा—किन्तु यह किसे ज्ञात था कि ऐसा होगा?

तीसरा—तुम्हें ज्ञात नहीं, यदि वशिष्ठ मंत्र-द्रष्टा हैं तो विश्वामित्र भी कम नहीं हैं। वे भी तो मंत्र-द्रष्टा हैं। इसके अतिरिक्त वे सुदास के पुरोहित हैं। क्या कोई पुरोहित यह स्वीकार करेगा कि उसका यजमान दूसरे से यज्ञ करावे। मुझे तो भाई, यह विश्वामित्र के दलवालों का ही कार्य दीख पड़ता है।

चौथा—तुम विश्वामित्र को ही क्यों दोष देते हो? पाशद्युम्न का भी तो यह काम हो सकता है। निश्चय है कि पाशद्युम्न के यज्ञ में सोम-पान

करते हुए इन्द्र को मन्त्र द्वारा बुलाना अनुचित ही हुआ है।

[**अरुन्धती का प्रवेश**]

माता, शक्ति का समाचार तुमने सुना !

अरुन्धती—हाँ, सब सुन चुकी हूँ। मैंने पहले ही सुदास के यहाँ यज्ञ में शक्ति के पुरोहित बनने का विरोध किया था। पर कोई सुने तब न? वशिष्ठ ने स्वयं शक्ति को उत्साहित करके भेजा। जो भी हो मैंने उस कार्य का उस समय भी विरोध किया था और अब भी करती हूँ। जो बात सत्य है, अन्याय है, उसका विरोध करना चाहिए। मुझे इसका कम दुख नहीं है। **(आँसू पोंछती है)**

पहला—माता, तो क्या आपको पुत्र की मृत्यु का कोई शोक नहीं है?

अरुन्धती—मनुष्य को सदा न्याय का पक्ष पालन करना चाहिए। हम लोग वैदिक हैं। यदि हम अन्याय-पथ पर चलेंगे तो हमारी सन्तान की क्या अवस्था होगी विध्रुव ?

पहला—किन्तु मैं विश्वामित्र के दलवालों को दण्ड अवश्य दूँगा। **(जाता है)**

[**शश्वती का प्रवेश**]

शश्वती—आर्यों का गौरव इसी में है कि न्याय का पालन करें। मैं अभी वशिष्ठ से शक्ति के सम्बन्ध में सुनकर आई हूँ। मैंने वशिष्ठ से कहा कि आपने एक पुरोहित के होते शक्ति को पुरोहित बनाकर भेजा ही क्यों ?

अरुन्धती—यही तो मैं भी कह रही हूँ बहन ?

शश्वती—आज मैंने मनु से कहा है कि वे इस सम्बन्ध में नियम बनावें। यह संघर्ष ठीक नहीं है। इसमें आर्यों की ही हानि है। इस समय हमारे सामने आर्यों की रक्षा का ही केवल प्रश्न नहीं है समाज के निर्माण का भी प्रश्न है। सुख समाचार यह है कि शक्ति को साधारण चोट आई है।

अरुन्धती—(**हर्ष से**) यह अच्छा हुआ। हाँ, ठीक है बिना नियम के हम लोग रह ही नहीं सकते।

चौथा—तो जो कुछ वेद बताते हैं वैसा क्यों नहीं करते ?

दूसरा—अरे, वेदों में तो संक्षेप रूप से सभी कुछ है, विस्तार तो हमीं को करना होगा।

अरुन्धती—मेरा शक्ति···हाँ, वेदों ने कहा—'एक साथ मिलकर चलो, एक-सा विचार करो, एक प्रकार के मन बनाओ जिसमें संघर्ष न हो।'

शश्वती—ये तो विधान हैं। जब इनका भंग होगा तब विशेष नियम बनेंगे।

तीसरा—जैसे।

अरुन्धती—जैसे रोगों को लो। हमको साधारणतया जीवन के साथ स्वास्थ्य प्राप्त हुआ है, रोग नहीं मिले। रोगों की उत्पत्ति स्वास्थ्य के नियमों का ठीक न पालन करने से होती है। ऐसी अवस्था में रोग जीवन के नियमों में व्यवधान की क्रिया है।

शश्वती—हमें उन व्यवधानों को दूर करना होगा। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि रोग न हों। तुमने आज एक बात सुनी बहन ?

अरुन्धती—क्या ?

पहला—क्या कोई नया समाचार है ?

शश्वती—वह अपाला देवी हैं न ? उनका रोग दूर हो गया !

अरुन्धती—(**आश्चर्य से**) कैसे, कैसे ? वह तो बिचारी बहुत दुखी थीं। उस दिन नदी-तट पर मैंने उन्हें देखा तो मुझे उनकी अवस्था से बड़ा दुख हुआ। उनके पति ने भी तो उनको त्याग दिया था ?

शश्वती—हाँ, पति क्या करते ? त्यागा तो नहीं था, वे स्वयं दुखी होकर अपने पिता के घर चली आई थीं।

अरुन्धती—तो क्या पति ने उनको नहीं छोड़ा था ?

शश्वती—नहीं, तुम तो जानती हो, निरपराध स्त्री का त्याग आर्यों

का नियम नहीं है। उस दिन मनु के पास अपाला और उनके पति पहुँचे तो अपाला के रोग को देखकर, मनु ने कहा—'तुम दोनों थक रहो। कहीं ऐसा न हो कि यह रोग फैलकर संतति को दुख दे।' बस, उसी दिन से अपाला पिता के घर आकर रहने लगीं।

अरुन्धती—अपाला स्वयं क्या कम विदुषी हैं, इस समय जो मंत्र-द्रष्टा ऋषि-कन्याएँ हैं उनमें ज्ञान की दृष्टि से वे किसी से कम नहीं है। उस दिन विश्ववारा, लोपामुद्रा और रोमशा के साथ उनका शास्त्रार्थ सुनकर मैं तो मुग्ध हो गई। अच्छा, भला उनका रोग किस तरह दूर हुआ?

शश्वती—निराहार रहने एवं केवल सोम-पान से। पाँच दिन हुए रोग से अत्यन्त पीड़ित होने पर वे चुपचाप नदी-तट पर चली गईं। वहाँ सोम-पान करती इन्द्र का आराधन करने लगीं। एक दिन स्वयं इन्द्र आ गये। अपाला को दाँतों से सोमवल्ली को चबाते देखकर पछा—क्या चबाती हो? अपाला ने इन्द्र को न पहचानकर कहा—सोमवल्ली! इन्द्र जब जाने लगे तब अपाला ने पूछा—क्या तुम भी सोमवल्ली का पान करोगे? इन्द्र ने हँसकर स्वीकृति दी। तब अपाला ने बहुत सी सोमवल्ली लता का रस निकालकर इन्द्र को पिलाया। इन्द्र रस पीकर प्रसन्न हुए और बोले—क्या चाहती हो? इस पर उन्होंने तीन वर मांगे। आहा बहन, अपालादेवी कितनी बुद्धिमती निकलीं!

अरुन्धती—क्या-क्या थे वे वर?

तीसरा—देखा, बुद्धिमान् कैसे काम निकालते हैं?

शश्वती—एक तो यह था कि मेरे पिता के सिर की गंज ठीक हो जाय। दूसरा यह कि उनके ऊपर क्षेत्र उर्वर हो जायँ। तीसरा यह कि मेरा चर्म-रोग दूर हो जाय।

अरुन्धती—अच्छा तो क्या सब ठीक हो गया?

शश्वती—हाँ, इन्द्र ने अपने रथ के छिद्र से उनके शरीर को तीन बार खींचा। इससे उनके शरीर का चर्म छिल गया। त्वचा के टुकड़े टूट-टूटकर गिरने लगे। तीसरी बार में उनका औषधि द्वारा शरीर ठीक

हो गया।

सब—वाह भाई वाह! रथ छिद्र में कोई औषध होगी।

अरुन्धती—इन्द्र के पास अमृत रहता है। वही लगाकर और मल-कर उनके शरीर का चर्म रथछिद्र से छील दिया होगा।

शश्वती—जानती हो उस चमड़े से क्या हुआ?

अरुन्धती—नहीं! क्या उनके चर्म से भी कुछ बना?

शश्वती—हाँ, उनके चर्म-शकल पृथ्वी पर गिरते ही दो प्रकार के कीट उत्पन्न हो गये।

सब—अच्छा, क्या थे वे?

शश्वती—एक केंकड़ा और दूसरी गोह। अपाला अब अपने घर पर हैं। सुन्दर, स्वस्थ, सुरूप। अत्रि ने उनके पति को सूचना भेज दी है। वे आ ही रहे होंगे।

अरुन्धती—चलो अच्छा हुआ। उनका दुख देखकर तो रोमांच हो आता था।

शश्वती—ऐसी सुन्दर हो गई हैं जैसे सोलह वर्ष की हों!

अरुन्धती—तुम क्या कम सुन्दरी हो? तुम भी तो सहस्रों में एक हो।

शश्वती—**(विस्मय करती हुई)** चलो हटो, तुम्हें यह क्या सूझा है?

अरुन्धती—नहीं सचमुच, क्या तुम विवाह न करोगी?

शश्वती—नहीं, अभी तो इच्छा नहीं है। हो तो मुझे रोक भी कौन सकता है? मैं आजकल समाज-शास्त्र का चिन्तन कर रही हूँ।

अरुन्धती—समाज-शास्त्र! यह कौनसा शास्त्र है?

शश्वती—वह शास्त्र जिसमें हमारे समाज की व्यवस्था हो। मैं और इडा दोनों यही सोचती रहती हैं। ऋषि मनु ने हमको यह कार्य सौंपा है। मार्ग भी उन्होंने ही बताया है।

तीसरा—**(दूसरे से)** लो सुनो। देखा तुमने?

दूसरा—हाँ सुनता तो हूँ ही, देख भी रहा हूँ।

पहला—तुम न सुनते हो न देख ही सकते हो। मैं कहता हूँ तुम में कुछ भी बुद्धि है? ये स्त्रियाँ हमारे लिए व्यवस्था तथा हमारे समाज का निर्माण करती हैं और तुम पोंगा बने देखते रहते हो।

दूसरा—तो तुमने कौनसे युद्ध जीत लिये?

शश्वती—हम लोग युद्ध को रोकना चाहती हैं जिससे युद्ध न हो और सब लोग सुख-शान्ति से रह सकें। देखो न, हमारी बनाई हुई व्यवस्था हो जाती तो आज शक्ति का यह समाचार न सुनना पड़ता?

अरुन्धती—मेरा विश्वास है देवता तुम्हारी सहायता अवश्य करेंगे।

शश्वती—मैं जीवन में पहले विश्वास करती हूँ देवता में पीछे।

अरुन्धती—और मैं देवता में प्रथम और जीवन में पीछे।

[श्रद्धा और इडा का प्रवेश]

श्रद्धा—और मैं दोनों में विश्वास करती हूँ।

इडा—तुम सब भ्रम में हो। मैं अपने में विश्वास करती हूँ। क्योंकि मुझसे पृथक कुछ भी नहीं है। हाँ, मैं तुम्हें यह समाचार देने आई थी कि पिता एक महान् यज्ञ कर रहे हैं

अरुन्धती—यज्ञ! यज्ञ तो अच्छी बात है इडा।

शश्वती—बहन, यही तो आर्यों का एक पवित्र पर्व है जिसमें सब दूर और निकट के लोग सम्मिलित हो सकते हैं।

इडा—पिता ने यज्ञ की वेदी के नियम, ब्रह्मा, होता, ऋत्विक आदि की व्यवस्था भी की है। वे सब प्रक्रियायें इसी समय निर्णीत होंगी।

शश्वती—सामाजिक विधानों के सम्बन्ध में भी इसी अवसर पर कुछ निर्णय होना चाहिए इडा?

अरुन्धती—तुम धन्य हो बहन! मैं आते ही वशिष्ठ को तुम्हारा सन्देश दूँगी। भला, यज्ञ कब प्रारम्भ होगा? क्या सब गोत्र-गुरु सम्मिलित होंगे?

इडा—आज से चतुर्थ सूर्योदय को। हाँ, सभी को मैं निमन्त्रण दे

रही हूँ। यही पिता की आज्ञा है।

सब—हम भी यज्ञ में सम्मिलित होंगे।

इडा—अवश्य। आप सब स्त्री-पुरुषों, बालकों, युवा, वृद्धों को निमन्त्रण है।

[**वशिष्ठ का शक्ति के साथ प्रवेश। सब का हर्ष-प्रकाश**]

अरुन्धती—(**शक्ति माता को प्रणाम करता है! माँ उसका सिर सूँघती है**) आ गये पुत्र! न जाने किसने तुम्हारे सम्बन्ध में मिथ्यापवाद फैला दिया?

शक्ति—हाँ माता!

वशिष्ठ—मिथ्यापवाद नहीं, एक तरह सत्य ही था।

सब—यह ईश्वर की कृपा है कि शक्ति सकुशल लौट आये। (**हर्ष-प्रकाश**)

वशिष्ठ—वस्तुतः वही विश्वामित्र के दल का व्यक्ति था। उसी ने शक्ति को मारा था। वह तो शक्ति को अधमरा करके छोड़ गया था। किन्तु मेरे पहुँचने के पूर्व ही श्यावाश्व ने सोम-पान तथा औषधि-प्रयोग द्वारा इसे स्वस्थ कर दिया था। (**शक्ति निर्बलता के कारण थका-सा दीख पड़ता है**)

अरुन्धती—अच्छा बहन, मुझे अभी शक्ति की देखभाल करनी है।

वशिष्ठ—तुम इडा, शश्वती? कोई समाचार है?

अरुन्धती—हमको भीतर चलना चाहिए वशिष्ठ! मैं सब समाचार तुम्हें सुना दूँगी। चलो।

[**सब चले जाते हैं**]

चौथा दृश्य

[मनु का आश्रम—यज्ञ की वेदी के चारों ओर मंत्रद्रष्टा ऋषि, ऋषिकाएँ तथा आर्य स्त्री-पुरुष एकत्रित हैं। कोई कुशासन पर, कोई मृगछाला पर, कोई जटिल, कोई मुण्डित, कोई वल्कल वस्त्र पहने, और कोई किसी वेष में है। सबके मुख पर वीरता का तेज है। आत्मदर्प, और आत्म-विश्वास अवस्था को ढके हुए हैं। जो मनुष्य बैठे हैं उनमें मुख्य ये हैं—मनु, कण्व, भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अंगिरा, वामदेव, गृत्समद आदि। स्त्रियों में लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, विश्वावारा, शश्वती इडा, यमी, वाक्, श्रद्धा, अरुन्धती आदि। इनके पीछे ऋषियों के पुत्र और ऋषि-पत्नियाँ।

यज्ञ की वेदी को वंदनवारों से सजाया गया है। पास ही ऋषियों के बालक-बालिकाएँ खेल रहे हैं, जो कभी-कभी दिखाई पड़ जाते हैं, केवल नेपथ्य से उनकी आवाज आती है। इधर यज्ञ की वेदी की अन्तिम आहुति के साथ यज्ञ समाप्त होता है। जब सब बैठ जाते हैं।][1]

मनु—(उठकर) बन्धुओ! इस यज्ञ में आपने देखा होगा कि मैंने कुण्डों की विधि और बैठने का क्रम निर्धारित किया है। ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु और होता। इस प्रकार यज्ञ का क्रम बाँधा गया है। यज्ञ आर्यों का प्रधान धर्म-कार्य है। इससे न केवल देवता ही प्रसन्न होते हैं, हम लोग भी संगठित होते हैं। जो प्रातः सायंकाल हम यज्ञ करते हैं उसके अतिरिक्त

---

१. इस दृश्य के आरम्भ से पूर्व, जब कि यवनिका उठेगी 'स्वाहा' स्वाहा, स्वाहा, स्वाहा की ठहर-ठहरकर ध्वनि आती रहेगी। कुछ लोग मंत्र भी पढ़ते रहेंगे। लगभग पाँच मिनिट तक इधर इस प्रकार की ध्वनि होती रहेगी, जिसमें स्त्री-पुरुषों की ध्वनि सम्मिलित होगी। पर्दे के प्रारंभ में लोग अपनी-अपनी मृगछाला, कुशासन लेकर बैठते दिखाई देंगे। स्त्रियाँ पूर्व की ओर पंक्ति बाँधे, दक्षिण और उत्तर की ओर ऋषि लोग। पश्चिम का भाग खुला।

हमको ऋतुओं के अनुसार नैमित्तिक यज्ञ भी करने होंगे जिसमें सम्पूर्ण गोत्र के व्यक्ति एकत्र हो सकें। (**बैठ जाते हैं**)

अत्रि—यज्ञ की यह प्रक्रिया ठीक है किन्तु वह संगठनात्मक किस तरह है। यह मेरी बुद्धि में नहीं आया।

इडा—नैमित्तिक यज्ञों के द्वारा आर्य लोग एकत्र होंगे तो उनको यज्ञ के पश्चात् अपनी परिस्थिति पर विचार करने का अवसर मिलेगा।

वशिष्ठ—तो क्या ये यज्ञ प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक होंगे?

मनु—हाँ, जो कर सके।

वशिष्ठ—दक्षिणा कौन देगा?

भृगु—जो यज्ञ करायेगा।

वशिष्ठ—हम लोगों का इतना सामर्थ्य कहाँ कि नैमित्तिक यज्ञ करें।

मनु—इसके लिये हमको जाति में भेद बनाना होगा।

सब—(**आश्चर्य से**) भेद, भेद क्या होगा?

मनु—आपको ज्ञात है हमको न केवल यज्ञ ही करना है समाज का निर्माण भी करना है। समाज के निमाण के लिए वेदों के बताए हुए मार्ग के अनसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के वर्गों की व्यवस्था करनी होगी।

सब—आश्चर्य है!

मनु—ब्राह्मण यज्ञ करावेंगे, वैदिक पद्धति का प्रचार करेंगे और यज्ञ की दक्षिणा द्वारा अपना निर्वाह करेंगे। क्षत्रिय देश की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित यज्ञ का प्रचार करेंगे।

विश्वामित्र—और वैश्य?

मनु—वे व्यवसाय की उन्नति करेंगे। गायों की रक्षा, गृह-नर्माण, क्षेत्र-वृद्धि का कार्य करेंगे। इस समय भी सुदास आदि यज्ञ-प्रेमी हैं।

विश्वामित्र—इनमें सबसे ऊँचे ब्राह्मण होंगे?

मनु—सभी अपने-अपने कार्य में ऊँचे होंगे।

वशिष्ठ—पर मर्यादा में तो ब्राह्मण ही ऊँचे होंगे न? यह तो

स्वभावसिद्ध है।

मनु—हमको जहाँ ब्राह्मणों की आवश्यकता है वहाँ क्षत्रियों की भी। वैश्यों और शूद्रों की भी। ऋषि विश्वामित्र किसी समय क्षत्रियत्व को श्रेष्ठ समझते थे।

विश्वामित्र—किन्तु अब तो मैं ब्राह्मण हूँ।

मनु—आपको ब्राह्मण होने से कौन रोकता है। मैं तो समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।

सब—किसी को भी क्षत्रिय, वैश्य बनना स्वीकार न होगा। हम ब्राह्मणत्व को छोड़ नहीं सकते।

इडा—तब हम जीवित नहीं रह सकते।

शश्वती—मैं आपसे निवेदन करना चाहती हूँ कि आर्यों पर शीघ्र ही भयंकर संकट आने वाला है। दास दानवों, राक्षसों से मिल गये हैं। वे हमको यहाँ से हटाने का उद्योग बड़ी तत्परता से कर रहे हैं।

श्रद्धा—यज्ञ करो। यज्ञ से देवता प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करेंगे।

सब—ठीक तो है। हम लोगों को यज्ञ का प्रचार करना चाहिए। श्रद्धा ठीक कहती हैं।

अरुन्धती—'यज्ञेन यज्ञमयजंत देवा: तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' देवताओं ने भी यज्ञ ही किये यही पूर्व धर्म था।

वशिष्ठ—हम मंत्रों द्वारा शत्रुओं का नाश करेंगे।

अत्रि—देवता प्रसन्न होकर हमको बल देते हैं। उसका प्रयोग तो हमको करना ही होगा।

कण्डव—जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का नाश करते हैं उसी प्रकार वेद द्वारा प्राप्त शक्ति से हम राक्षसों का नाश कर देंगे।

अगस्त्य—वर्ण-व्यवस्था वेद प्रतिपादित होती हुई भी किसी के लिए बन्धन नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष चाहता है। मोक्ष का अधिकारी केवल ब्राह्मण है। फिर कौन क्षत्रिय, वैश्य होना स्वीकार करेगा?

अंगिरा—किन्तु सबके चाहने पर भी सब व्यक्ति ब्राह्मणत्व को प्राप्त

नहीं कर सकते। जिसमें बौद्धिक विकास, आत्मिक चमत्कार अधिक होगा वही ब्राह्मण बनेगा न ?

वामदेव—मैं आत्मा को ही नहीं मानता। मैं बुद्धि पर विश्वास करता हूँ।

गृत्समद—(**हँसकर**) तुम तो गर्भ से ही नहीं निकलना चाहते थे। तुम्हारी तो बात ही विचित्र है वामदेव !

अपाला—यह व्यक्तिगत आक्षेप है।

घोषा—किन्तु यह कोई बुरी बात नहीं है।

विश्वावारा—मूल वस्तु पर विचार होना चाहिए।

मनु—आप लोग ठीक कह रहे हैं। मेरा सोचना व्यर्थ है। समय अपने आप व्यवस्था का निर्माण करेगा। और वह व्यवस्था हमारे एक बार पतन के पश्चात होगी, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

सब—पतन के पश्चात् ? यह क्या कहा आपने ?

मनु—वह समय दूर नहीं है जब आपको बाध्य होकर यह स्वीकार करना पड़ेगा।

इडा—शत्रु से आहत, पराजित होकर।

श्रद्धा—हम लोग यज्ञ करेंगे तो यह कैसे सम्भव है ?

अरुन्धती—देवता हमारी रक्षा करें।

वशिष्ठ—हम तो समझते थे इस यज्ञ में दक्षिणा के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था होगी कि किस पुरोहित को कितनी दक्षिणा मिले।

शक्ति—निर्णय उसी बात का होना चाहिए।

विश्वामित्र—लोभी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकते।

वशिष्ठ—मृगया करके जीवन यापन करने वाले भी।

शक्ति—हत्यारों को कभी किसी ने ब्राह्मण नहीं बनाया।

विश्वामित्र—जिसकी आत्मा उन्नत नहीं, जो लोभी है, जो दक्षिणा के लिए दूसरे के मंडप में जाकर यज्ञ करा सकता है उसकी हत्या करने में पाप नहीं है।

शक्ति—चुप रहो।

विश्वामित्र—नर-पशु ?

वशिष्ठ—(**उठकर**) तुमने मेरे पुत्र की हत्या कराने का यत्न किया। तुम ब्राह्मण नहीं हो सकते।

विश्वामित्र—तुम क्रोधी हो। तुमने शाप देकर मेरे वर्ग के एक मनुष्य के दस पुत्रों को मार दिया। तुम ब्राह्मण कैसे ? क्रोधी ब्राह्मण नहीं हो सकते। तुम यातु...।

वशिष्ठ—देखो चुप रहो, नहीं तो इसका फल भोगना होगा।

मनु—(**हाथ जोड़कर**) यह व्यक्तिगत राग-द्वेष का समय नहीं है। इस समय हमें दासों, दानवों से युद्ध के लिये उद्यत रहना चाहिये। यदि आप लोगों को यह व्यवस्था स्वीकार नहीं है तो मुझे कुछ भी नहीं कहना।

कुछ—सर्वथा स्वीकार नहीं है मनु। और कोई बात कहो।

वामदेव—यह स्वाभाविक बात है कि जब तक किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती तब तक उसके अच्छे होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अगस्त्य—इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनु की यह व्यवस्था उचित है।

विश्वावारा—तो स्वीकार क्यों नहीं करते ?

अगस्त्य—अभी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई पुत्रि ? आवश्यकता होते ही वह स्वीकार्य होगी। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। यदि यह सब लोग स्वीकार कर लें तो भी उसका महत्त्व तो समय पर ही प्रतीत होगा।

मनु—आप सत्य कहते हैं ऋषिवर !

अत्रि—समय आने पर ही केवल यज्ञ को प्रधान मानकर व्यवस्था को भंग करनेवाले आर्यों को इसकी आवश्यकता होगी। तभी उसका महत्त्व प्रतीत होगा।

इडा—यह तो जान-बूझ कर अग्नि में गिरना हुआ। मान लीजिये अभी शत्रु हम सब पर आक्रमण कर दे तो हम किस प्रकार अपनी रक्षा करेंगे ?

एक—जैसे अब तक करते आये हैं। अब तक ही हम कौन दासों से पराजित हुए हैं जो आज होंगे।

दूसरा—दास हमारे सामने कभी लड़े भी हैं जो अब लड़ेंगे ?

तीसरा—वे तो आर्यों की सेवा के लिये हैं।

एक—हम अपनी रक्षा आप करेंगे आप चिन्ता न कीजिये।

अरुन्धती—देवता हमारी रक्षा करेंगे मनु ? तुम चिन्ता क्यों करते हो।

श्रद्धा—न जाने क्यों, प्राप्त ढंग से मनु जीवन नहीं बिताना चाहते। देख लिया इडा शश्वती, अपनी बुद्धि का फल ? चलो अब भी कुछ नहीं हुआ है। हाँ यज्ञ की बातें मुझे अच्छी लगीं।

अरुन्धती--मुझे भी बहन ?

[बालक कोलाहल करते आते हैं। दैत्य, राक्षस, दानव, दस्यु आ-रहे हैं। सब आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। अपनी-अपनी मृगछालायें सँभालकर खड़े हो जाते हैं। इतने में एक बाण आकर एक व्यक्ति के लगता है, वह 'हाय' करके गिर जाता है। सब लोग 'चलो युद्ध करें, चलो युद्ध करें' कहते हुए दौड़ पड़ते हैं। राक्षसों, दानवों, दस्युओं से युद्ध होता है ? आश्रम रिक्त हो जाता है। नेपथ्य से हाय हाय, मारो, काटो, तथा अट्टहास का दृश्य सुनाई देता है। अँधेरा छा जाता है। कभी स्त्रियों की आवाज आती है। कभी पुरुषों के चीत्कार, कभी बालकों के स्वर। गायों के भागने की पदध्वनि। क्षेत्रों के चट-चट करके जलने का स्वर। भागो, दौड़ो, चलो। अरे तुम कहाँ हो ? वशिष्ठ, तुम कहाँ हो ? देवता तुम्हारी रक्षा करें। मनु तुम कहाँ हो ? देवता तुम्हारी रक्षा करें। आदि मिश्रित भिन्न-भिन्न स्वर सुनाई पड़ते हैं। इसी गड़बड़ी से मनु के दस पुत्र युद्ध-सामग्री से सन्नद्ध होकर आते हैं।]

मनु के पुत्र—पिता हम लोग युद्ध करेंगे। हम इस प्रकार आर्यों का विनाश नहीं देख सकते। हमें आज्ञा दीजिये। आपने हमें युद्ध-शिक्षा दी है हम युद्ध करेंगे।

कुछ लोग—हमको युद्ध की आज्ञा दीजिये।

मनु—हाँ, पुत्रो, जाओ। शत्रु का आक्रमण मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

[नेपथ्य में लोग भागते दिखाई पड़ते हैं। गायें जा रही हैं। बालक वृद्धा, युवा, युवतियाँ दौड़ रहे हैं। कुछ चलते-चलते गिर जाते हैं। फिर उठकर चलने लगते हैं। चीत्कार, कोलाहल, अट्टहास फिर मार-काट की ध्वनि सुनाई दे रही है। कभी राक्षसों और कभी दस्युओं के युद्ध की आवाज। बड़ी देर तक नेपथ्य में गड़बड़ी रहती है। कुछ लोग रंगभूमि से भागते, कुछ क्षत-विक्षत दीख पड़ते हैं। उसी समह पर्दा गिरता है]

पाँचवाँ दृश्य

(दो मास के पश्चात्)

[वासुकि, चिन्न तथा अन्य कई दस्यु कुछ राक्षसों के साथ चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित नदी के किनारे बैठे हैं। बालू रेत के कण उस प्रकाश में चमचमा रहे हैं। दो ओर मनुष्य की मज्जा से दीप्त दो बड़ी मशालें जल रही हैं। सबके सामने मद कादम्ब रखे हैं। पत्र-पुटों में लोग मदिरा ढालकर पी रहे हैं। सामने कुछ नर्तकियाँ नाच रही हैं। वे कभी दस्युओं और कभी राक्षसों को मद पिलाती हैं। नृत्य नहीं नृत्त है जिसमें गायन नहीं है। केवल भाव-भंगी है। मद, कटाक्ष-विक्षेप, हस्त-चालन, पद-गति, कभी-कभी मशालची मशालें उनके सामने कर देते हैं। कभी मशालची मद पीने लगते हैं। स्त्रियाँ बैठ जाती हैं। हाँ, नर्तन के साथ-साथ वंशी भी बजती है। कुछ लोग मनुष्य कपाल लेकर डण्डों से उन जैसे स्वर निकालते हैं। कुछ हाथों की तालियों द्वारा अपनी मस्ती तथा पद् गति से ध्वनि मिला रहे हैं। धीरे-धीरे सब शान्त हो जाता है। केवल वासुकि और चिन्न सचेत हैं तथा कुछ दस्यु लोग भी।]

वासुकि—अन्त में हमारा प्रयत्न सफल हो ही गया। आर्यों को हमने इस भूमि से निकाल दिया। हमने कितने आर्यों को बन्दी किया होगा चिन्न !

चिन्न—लगभग पचास स्त्री-पुरुष। शेष भाग गये।

वासुकि—आज मैं कितना प्रसन्न हूँ भाई कि मेरे देश से आर्य लोग निकल गये।

चिन्न—निकल गये या निकाल दिये गये?

वासुकि—वही आशय है। किन्तु इन राक्षसों का भी विश्वास नहीं है।

चिन्न—इसकी तुम चिन्ता मत करो। इन लोगों का ध्येय किसी भूमि पर अधिकार जमाना नहीं है। इनको तो भोजन चाहिये।

एक—भोजन और स्त्री के अतिरिक्त ये किसी की चिन्ता नहीं करते। ऐसी जाति कभी जीवित नहीं रह सकती जिसके जीवन का कोई उद्देश्य न हो।

वासुकि—(**अपने कुछ व्यक्तियों से**) तुम इनको उठाकर नदी के तट पर लिटा आओ। (**सब उठा-उठाकर ले जाते हैं**) कितनी सुन्दर रात्रि है चिन्न?

चिन्न—हमारे देश की तरह सुमधुर।

वासुकि—हमको अपनी सेना सदा तैयार रखनी होगी। मेरा विश्वास है आर्य फिर इस भूमि पर आक्रमण करेंगे।

चिन्न—इतनी शीघ्रता से नहीं। इस समय सिन्धु नद बहुत चढ़ा हुआ है। वे वर्षा-ऋतु तक इधर नहीं आ सकते। फिर भी हम लोग सशस्त्र उनसे युद्ध करने को उद्यत रहेंगे। मैंने प्रबन्ध कर लिया है। दो सहस्र दस्यु सिन्धु के इस तट पर रहेंगे। वे आवश्यकता पड़ने पर न केवल युद्ध ही करेंगे हमको सूचना भी देंगे। उस समय हम लोग इन राक्षसों की सहायता से उन्हें फिर पराजित कर सकेंगे।

वासुकि—शेष पचास आर्यों को मार क्यों नहीं देते?

चिन्न—मैं उनको दास बनाऊँगा। इसीलिए उनको तथा उनकी स्त्रियों को जीवित रखा है। मैं स्वयं कुछ आर्य स्त्रियों को अपने लिये रखना चाहता हूँ। उनमें से मैंने कुछ चुन भी ली हैं। सचमुच आर्य-

स्त्रियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं।

[कुछ दस्यु-स्त्रियाँ चेतन होकर अँगड़ाई लेती ह। बासुकि तथा चिन्न उन्हें उठाकर गोद में बिठा लेते हैं। फिर सब लोग मदिरा पीते हैं।]

वासुकि—आज कितने आनन्द का दिन है। स्त्रियों को छोड़कर शेष आर्यों को मार देना चाहिए चिन्न! वे लोग मर भले ही जायँ दास बनना स्वीकार नहीं करेंगे।

चिन्न—तब मार दिया जायगा। (**जँभाई लेता है।**)

[कुछ राक्षसों का प्रवेश]

एक—ये, ये क्या हो रहा है?

दूसरा—आलिंगन?

तीसरा—मदिरा कहाँ है?

चौथा—हम लोग तो यहीं थे न? बाहर कैसे चले गये?

वासुकि—उड़कर कदाचित्।

एक—वे आर्य-स्त्रियाँ कहाँ ह?

दूसरा—दो मैं लूँगा समझे।

तीसरा—मैं भी तो। (**फिर सब मदिरा पीते हैं**)

वासुकि—अवश्य, अवश्य।

[धीरे-धीरे प्रकाश कम होता है। अंधकार छा जाता है। इसी समय नेपथ्य से सुनाई देता है 'भाग गये', 'मारो काटो', 'पकड़ो दौड़ो'। एक व्यक्ति आकर समाचार देता है कि कुछ आर्य भाग गये। दौड़कर उधर जाते हैं।]

राक्षस—भाग गये?

[चले जाते हैं]

वासुकि—(**खड़ा होकर**) भाग गये, कैसे भाग गये? जहा हों वहाँ से पकड़कर लाओ। सत्य ही हम लोग आर्यों की अपेक्षा निर्बल हैं। यदि राक्षसों का सहयोग न होता तो हम किसी तरह भी उन्हें सिन्धु के

पार न भगा सकते !

एक—आर्यों से हमारी शत्रुता निभ नहीं सकती वासुकि ?

दूसरा—यह तो राक्षसों के सिर पर चढ़कर बाण चलाना हुआ भला, हम कब तक अपनी रक्षा कर सकते हैं ?

चिन्न—तो क्या तुम चाहते हो हम लोग इस प्राप्त विजय को हाथ से चली जाने दें ?

तीसरा—किन्तु युद्ध तो व्यर्थ है चिन्न ! हम किसी तरह भी उनसे युद्ध नहीं कर सकते, न हमारे पास वैसे अस्त्र हैं न हम युद्ध-कला ही जानते हैं।

वासुकि—मैंने स्वयं उनके यहाँ रहकर युद्ध-विद्या सीखी है। अब उसी ढंग से मैं दस्युओं को शिक्षा दे रहा हूँ।

[बहुत से आर्यों को पकड़कर लाना]

वासुकि—(**पास जाकर**) तुम क्यों भागे ? बोलो ? (**बाण से उनकी चिबुक उठाकर**) बोलो ?

एक आर्य—कोई व्यक्ति इस अवस्था में रहना स्वीकार न करेगा इसीलिए।

एक दस्यु—अब ात हुआ कि दूसरों को 'दास' कहने का क्या फल है। अब तुमको हमारी सेवा करनी होगी। नहीं तो तुम्हें मार दिया जायगा।

दूसरा आर्य—तो मार दो। हम मरने के लिए उद्यत हैं।

चिन्न—आज सायंकाल तक जो सेवा करना स्वीकार न करें उनको काटकर देवी की बलि दी जायेगी। बोलो, तुम्हें स्वीकार है ?

एक—क्या स्वीकार ?

तीसरा आर्य—मृत्यु।

एक दस्यु—बलि।

पहला आर्य—तुम चाहे जो करो। हम लोग इस अवस्था में जीवित नहीं रहना चाहते।

चिन्न—ले जाओ इनको। आज इनकी बलि दी जायगी। इससे पूर्व इन पर नागों को छोड़ो, फिर बलि दो।

[ले जाते हैं, फिर कोलाहल]

चिन्न—बड़े दुष्ट हैं ये लोग। यह कैसा कोलाहल है ?

वासुकि—(**सोचकर**) क्या बलि देना इस पर अत्याचार नहीं है ? ये लोग तो हम को पकड़कर कभी नहीं मारते !

चिन्न—तो यह इनकी निर्बलता है ? तुम बीच में मत बोलो। मैं एक-एक को दण्ड दूँगा।

वासुकि—अच्छा यही सही। कदाचित हमारी क्रूरता ही इन्हें भयभीत कर दे।

चिन्न—हाँ। जीवन में हमारा कोई शत्रु है तो ये आर्य। हम अवसर पाकर इनके साथ कोई अच्छा व्यवहार नहीं कर सकते। आज, बहुत दिनों के बाद मेरी इच्छा पूर्ण हुई है वासुकि ?

[कोलाहल मचता है। मारकाट की ध्वनि सुनाई देती है। कुछ लोग उदास-से आते हैं।]

वासुकि—क्या हुआ ?

एक व्यक्ति—उन्होंने बड़ा भयंकर काण्ड कर डाला। मार्ग में ही उन्होंने कुछ दस्युओं पर आक्रमण किया। कुछ लड़कर मारे गये, शेष भाग गये।

चिन्न—(**क्रोध से**) मैं देखता हूँ।

वासुकि—चलो मैं भी चलूँ।

चिन्न—मैं शत्रु के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना मूर्खता समझता हूँ, वासुकि !

वासुकि—बात यह है, हम लोग द्वेषवश आर्यों को भले ही बुरा समझें, वस्तुतः उनका व्यवहार हमारे प्रति बुरा कभी नहीं हुआ। किंतु मैंने जो उनसे युद्ध किया वह केवल जाति और देश की स्वतन्त्रता के लिए तो ?

दूसरा अंक

पहला दृश्य

(सन्ध्या का समय)

[**दृश्य प्रारम्भ होते ही—उत्तरापथ से आने वाले आर्यों का दल—स्त्री, पुरुषों, बालकों, वृद्धों का रुरु-मृग के चर्म के वस्त्र पहने दीख पड़ता है। विशाल शरीर, उन्नत कार्य, बड़े-बड़े नेत्र, लंबी नासिका, गौर शरीर, मांसल रक्त-पेशियाँ चले जा रहे हैं। पहले चित्र में घाटियाँ दीख पड़ती हैं। फिर धीरे-धीरे स्थल का भाग। धूप में आकर डेरा डाल देते हैं। सामने नदी, ऊपर हिमाच्छादित पर्वत-मालाएँ दिखाई देती हैं। थोड़ी देर विश्राम करके उठते हैं और आगे बढ़ते हैं। फिर दूसरा दल इसी प्रकार आकर ठहरता है, फिर तीसरा। इतने में जब कि कुछ लोग घाटियों में आते दिखाई देते हैं। दो पुरुष रंगभूमि में सामने आ जाते हैं। उनमें एक का नाम है सुद्युम्न, और दूसरी का शश्वती।**]

शश्वती—(दूर से) युवक, तुम कहां रहते हो ? तुम्हें मैंने प्रथम बार ही देखा है।

सुद्युम्न—(मुँह फेरकर) क्या जिसे कभी नहीं देखा, उसे कभी देखा नहीं जा सकता ?

शश्वती—तुमने मुख क्यों फेर लिया युवक, क्या संकोच करते हो ? **(पास से)** अरे, यह क्या तुम ! यह पुरुष वेश। हा हा हा हा।

सुद्युम्न—हाँ बहन, **(अट्टहास करके)** मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं पुरुष बनूँ। कोई आपत्ति है क्या ? अब मेरा नाम सुद्युम्न है।

शश्वती—नहीं, तुम सचमुच पुरुष ज्ञात होती हो इडा ? बहुत सुन्दर युवक लगते हो सुद्युम्न ! क्या सुन्दर रूप है ?

सुद्युम्न—अन्त में वही हुआ जो मैं कहती थी। हम लोग पराजित हो गये।

शश्वती—विश्व की सर्व-प्रथम बुद्धिमान यह आर्य-जाति इतनी अदूर-दर्शी होगी इसका मुझे विश्वास नहीं था। (**घाटी की ओर देखकर**) देखो, वे कौन लोग आ रहे हैं?

सुद्युम्न—(**उधर ही देखकर**) हा, कदाचित आर्यों का कोई दल होगा। इधर हम लोग पराजित होकर पीछे हट रहे हैं। उधर ये लोग आगे बढ़ रहे हैं। इस उपत्यका में इतना स्थान नहीं कि बहुत व्यक्ति टिक सकें। ऊपर पर्वतमाला, सामने नदी, थोड़ी-सी भूमि। कहाँ तक लोग बस सकते हैं?

शश्वती—मुझे तो दुख इस बात का है कि गोत्र-गुरुओं को मनु की बात न मानने के कारण ही दासों से पराजित होना पड़ा है। स्वयं पिता ने यज्ञ से पूर्व प्रत्येक गोत्र के अधिपति को दासों के षड्यन्त्र के सम्बन्ध में बताया था।

सुद्युम्न—मैं इससे उदास नहीं हूँ शश्वती! मैं इन आने वाले आर्यों के द्वारा वर्षा के पश्चात् युद्धोद्योग करूँगी। मेरे जीवन का ध्येय यही है।

शश्वती—मैं मनु से मिलना चाहती हूँ। मैं उनसे मिलूँगी। मुझे श्रद्धा का बड़ा दुख है इडा बहन!

इडा—(**आँसू पोंछकर**) माँ को इस पराजय का बहुत दुख हुआ।

शश्वती—पर यह हुआ कैसे? क्या हम इतनी दूर आकर भी सुरक्षित नहीं हैं। देखो, वे लोग आ गये। (**आर्यों का एक दल आकर विश्राम करता है। शश्वती और इडा छिप जाती हैं**) देखो ये क्या करते हैं?

एक—कदाचित इससे पूर्व भी कुछ लोग यहाँ ठहरे हैं।

दूसरा—हाँ, और क्या, किन्तु यह स्थान तो बहुत संकुचित है? हम

लोग यहाँ कैसे रह सकते हैं ?

तीसरा—अरे, इसके आगे ही तो सिंधु नदी है। उसके पश्चात् स्थल-ही-स्थल है। देखते जाओ। कितना रमणीक स्थान है।

चौथा—मैंने सुना है जैसे ही जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे ही इस भूमि की सुन्दरता भी बढ़ती जायगी।

पहला—और क्या ? हमारी जाति के बहुत से लोग वर्षों से इसी दिशा में बढ़ते आ रहे हैं। मैंने प्रजनन वर्ग के व्यक्तियों से कहा था। देखो यहाँ कहीं जल है ? तृषा लग रही है।

दूसरा—भोजन का भी प्रबन्ध करना होगा। यहां तो कोई पशु-पक्षी भी नहीं दिखाई देता।

तीसरा—आगे नदी दिखाई देती है। चलो तट पर ही क्यों न बैठा जाय।

दूसरा—हाँ, है तो ठीक। चलो चलें। यह तो (**पीछे की ओर देखकर**) देखो, घाटी का मुखद्वार है। यहां भला क्या मिलेगा ?

[**सब सामान उठाकर चल देते हैं। सुद्युम्न शश्वती का प्रकट होना**]

सुद्युम्न—आप लोग कहां जा रहे हैं ?

एक आर्य—जा रहे हैं इतना जानते हैं। अभी कहीं का निश्चय नहीं। क्योंकि आगे का स्थान अदृष्ट है।

एक स्त्री—तुम कितने सुन्दर हो। तुम्हारा नाम क्या है ? देखो, इसको तृषा लग रही है। यहाँ कहीं जल होगा !

शश्वती—आप लोग आर्य हैं न ? जल इस स्थान से दोघटी के मार्ग पर मिलेगा ? वहीं सिंधु-नद बह रहा है। वहाँ बहुत से आर्य लोग निवास करते हैं।

सुद्युम्न—आपको मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

एक आर्य—कष्ट, कैसा कष्ट, न जाने कितने समय से ऐसे ही चल रहे हैं। हम लोगों के वर्ग में तीन सौ व्यक्ति हैं। कुछ आगे निकल गये,

कुछ पीछे आ रहे हैं। चलो भाई, तृषा लग रही है। इस देश में आते ही तृषा भी लगी। बड़ा उष्ण देश है।

शश्वती—तुम कितनी सुन्दर हो युवती ?

दूसरा—(**हँसकर**) चलो चलो, हम भी क्या कम सुन्दर हैं ? आप लोग क्या यहीं ठहरेंगे ? देखिये, हमारे गोत्र के अग्रज आ रहे हैं। उनसे कह दीजियेगा कि हम लोग सिन्धु-तट पर एकत्र होंगे। तृषा लग रही है भाई, यदि कष्ट न हो तो आप ही हम लोगों को चलकर वह स्थान बता दीजिये।

सुद्युम्न—शश्वती, तुम इन्हें ले जाओ। सिन्धु के तट पर ठहराना।

[**चलते-चलते ठहरकर**]

युवती—युवक, क्या तुम इसी देश के रहनेवाले हो ?

सुद्युम्न—नहीं, देवी हम लोग भी आर्य हैं ? हम लोग बहुत वर्ष हुए इसी मार्ग से आये थे। आज हम पराजित हैं ?

[**सब लौटकर**]

सब—पराजित, तुम लोग किससे पराजित हो गये ?

युवती—पराजितों को मैं नहीं चाहती। चलो भाई, चलें।

सुद्युम्न—इस देश में एक जाति रहती है। उसी ने हमें पराजित किया है।

एक—किन्तु आर्य तो कभी पराजित हुए हों, ऐसा नहीं सुना, तुम आर्य न होगे। चलो।

दूसरा—हमको पराजित करनेवाली कोई जाति संसार में है क्या ?

सुद्युम्न—हम आर्य हैं, किन्तु संगठित न होने के कारण पराजित हुए।

तीसरा—तो संगठित क्यों न हुए ?

शश्वती—वह तुम्हें सिन्धु के तट पर आर्यों से ज्ञात होगा।

सब—तो हम लोग आगे न जायँगे। पराजित जाति से मिलना भी अपमानजनक है। चलो लौट चलें।

शश्वती—यह कायरता है। क्या तुम लोग भयभीत हो गये ?

सब—नहीं, यह बात नहीं है। हमने तो सुना सबसे बुद्धिमान् ऋषि मनु इधर रहते हैं। इसी कारण हम उधर जा रहे हैं। क्या उन्होंने तुम्हारी कोई सहायता नहीं की ?

शश्वती—आप लोग चलिये, पिता मनु वहीं हैं। तुम भी चलो न सुद्युम्न ?

सुद्युम्न—मुझे एकान्त चाहिए। मैं यहाँ थोड़ी देर ठहरूँगा। इसके अतिरिक्त इस समूह के अग्रज को मार्ग दिखाऊँगा। तुम चलो। (**सब चले जाते हैं**) ये लोग कितने स्पष्टवादी हैं, वीर भी। अब मेरा ध्येय इन आर्यों की सहायता से फिर आक्रमण करने का है। यह युवती भी कितनी सुन्दर है। कितनी स्पष्ट। हमारे पराजित होने का नाम सुनकर कहने लगी, मैं तुमको नहीं चाहती (**ऊपर घाटी की ओर देखकर**) कदाचित्—उस दल के लोग आ रहे हैं।

[**आगे-आगे एक तेजस्वी पुरुष। उसके पीछे नर-नारी वर्ग चला आ रहा है। सब लोग आकर उसी स्थान पर डेरा डाल देते हैं**]

बुध—(**सुद्युम्न को देखकर**) ए भाई, सुनो तो।

सुद्युम्न—(**उस तेजस्वी पुरुष को देखकर मुग्ध-सी होती हुई**) क्या है ?

बुध—इधर आओ, तनिक हमारी बात तो सुनो ?

सुद्युम्न—कहो न ? वहीं से कह दो।

बुध—देखो, मैं कहता हूँ तनिक इधर आओ।

सुद्युम्न—मैं वहां नहीं आ सकता।

बुध—ऐसा शब्द तो आज मैं प्रथम बार सुन रहा हूँ।

सुद्युम्न—मैं भी तुम्हारे जैसे उद्धत युवक को प्रथम बार ही देख रहा हूँ।

एक—मूर्ख दिखाई देता है। अरे ये हमारे अग्रज हैं। तुम इनकी आज्ञा न मानोगे तो दण्ड मिलेगा।

सुद्युम्न—तुम्हारे अग्रज हैं, मेरे तो नहीं।

बुध—(**पास जाकर उसके कंधे पर हाथ रखकर**) युवक, तुम जानते हो तुम किससे बातें कर रहे हो ? इसमें सन्देह नहीं, यह तुम नहीं तुम्हारा सौन्दर्य है जिसने तुमको इतना उद्धत बना दिया है। सुन्दर युवक, तुम कहां रहते हो ?

सुद्युम्न—(**कंधे से हाथ झटककर**) दूर खड़े होकर बातें कीजिये महाशय !

एक आर्य—आर्य, यह पुरुष बड़ा अभद्र है।

दूसरा—मुझे तो यह पुरुष ही नहीं ज्ञात होता।

तीसरा—अरे भाई, बोलना कोई अपराध है क्या ?

सूनृता—(**आगे बढ़कर**) ओह इतने सुन्दर हो तुम ? आर्य, मैं इनसे विवाह करूँगी।

सुद्युम्न—मैं किसी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।

सूनृता—(**भाई बुध से**) अग्रज, इनको समझाओ। मैं अवश्य इनसे विवाह करूँगी। युवक, देखो, मैं कितनी सुन्दर हूँ। ये मेरे भाई हैं। इस संपूर्ण वर्ग के स्वामी। अग्रज, इन्हें समझाओ।

सुद्युम्न—देवी, मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता।

सूनृता—(**पास जाकर**) क्यों ?

बुध—कितने सुन्दर हो तुम ? अच्छा जाने दो। हम तुम मित्र हैं। यह बताओ तुम कहां रहते हो ?

सुद्युम्न—इस स्थान से कुछ दूर, सिन्धु के तट पर।

बुध—क्या मनु भी वहां हैं। हम लोग उनके दर्शन करने जा रहे हैं।

सुद्युम्न—क्यों ?

सूनृता—अरे, तुम इतना भी नहीं जानते। मनु संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। हम लोग उन्हीं के पास जा रहे हैं।

सुद्युम्न—मनु किस बात में श्रेष्ठ हैं यह मैं नहीं जानता। यहां तो सभी मनु हैं।

सुनृता—उन्होंने अग्नि को संसार में प्रकट किया। उन्होंने हम सब को चिन्तन करने का मार्ग दिखाया। विवेक उत्पन्न करके मनुष्य को मनुष्य बनाया।

बुध—इसके अतिरिक्त जब संपूर्ण संसार जलमग्न हो गया था तब उन्होंने मनुष्य-जाति का निर्माण किया। हम सब लोग उन्हीं के द्वारा इतना कुछ सीख सके हैं।

सुद्युम्न—**(प्रसन्न होकर)** मनु आजकल बहुत चिंतित हैं। यहां के आर्यों ने उनका कहना न माना। दासों, राक्षसों से युद्ध करने के लिए संगठित न हुए इस कारण पराजित हो गये। और पंचनद देश से भगाये जाकर आज वे इस पार फिर लौट आये हैं।

बुध—हां, ऐसा। मनु का कहना उन्होंने क्यों न माना ? संगठन ही तो शक्ति है। क्या आगे दास-जाति रहती है ?

सुद्युम्न—सिन्धु के उस पार दासों और दानवों के निवास-स्थल हैं।

बुध—किन्तु आर्य मनु उन्हें समझा तो सकते थे ? इस समय मनु कहां हैं ?

सुद्युम्न—तप कर रहे हैं।

सूनृता—यह तो बहुत बुरा हुआ अग्रज कि आर्य लोग पराजित होकर सिन्धु के तट पर लौट आये ? आप तो इन आर्यों की बड़ी प्रशंसा करते थे। क्या ऐसे आर्यों में हमको रहना होगा ?

बुध—न जाने, यह क्या मेरा भ्रम था। यदि ऐसा है तो मुझे बड़ा दुःख है आर्य ?

सुद्युम्न—किन्तु इससे मुझे कोई दुःख नहीं है। जो गिरते हैं वे ही चलना सीखते हैं आर्य !

बुध—यह तो ठीक है।

बुध—सुना, उनकी बहुत सी सन्तानों में एक पुत्री इडा है। वह बहुत बुद्धिमती है।

सुद्युम्न—**(निःसंकोच होकर)** होगी, यदि वह बुद्धिमती होती तो

आर्यों की यह पराजय न होती।

बुध—जहां संगठन की आवश्यकता हो वहां एक बुद्धिमान् कुछ भी नहीं कर सकता। इडा कहां हैं? मैं उनसे मिलूँगा।

सुद्युम्न—इडा तनिक भी समझदार नहीं है।

बुध—किन्तु वह तो बड़ी सुन्दरी है।

सुद्युम्न—मुझे तो ऐसा कभी ज्ञात नहीं हुआ। आप उससे मिलकर क्या करेंगे?

सूनृता—युवक, क्या सिन्धु-तट के आर्य सब तुम्हारी तरह सुन्दर हैं?

बुध—तुम पहले मेरी बात का उत्तर दो। क्या मैं उससे मिल सकता हूँ?

सूनृता—तुम पहले मेरी बात का उत्तर दो युवक?

बुध—मैंने इडा की बड़ी प्रशंसा सुनी है।

सुद्युम्न—वह बड़ी कर्कशा है। कठोर है। अभद्र है।

बुध—**(सोचकर)** किन्तु एक बार देखना तो होगा ही।

सूनृता—चलो भाई, चलें। यहां से कितनी दूर होगा वह प्रदेश?

सुद्युम्न—पास ही।

सब—चलिये आर्य, विलंब हो रहा है। प्रातःकाल से कुछ भी भोजन नहीं किया।

[सब चलने की तैयारी करते हैं। केवल सुद्युम्न रह जाता है]

बुध—**(सुद्युम्न को देखकर)** क्या तुम सिन्धु-तट पर नहीं चलोगे?

सूनृता—चलो न? देखें, कैसा प्रदेश है!

सुद्युम्न—**(बुध से)** आपका क्या नाम है?

बुध—आर्य बुध?

सुद्युम्न—सुन्दर नाम है। क्या आप इडा से मिलना चाहते हैं?

बुध—हां, क्या मैं उस आर्या से मिल सकूँगा? यदि तुम उनसे मुझे मिला दो तो बड़ी दया हो। **(सुद्युम्न के कन्धे पर हाथ रख देता**

है। **इडा को रोमांच होता है)** हैं, तुम कांप क्यों रहे हो ?

सुद्युम्न—यों ही।

बुध—तुम बहुत सुन्दर हो युवक ! मेरी बहन सू ृता से क्यों विवाह नहीं कर लेते ? तुमने विवाह तो अभी नहीं किया है न ?

सुद्युम्न—नहीं। किन्तु मैं अभी किसी से विवाह नहीं कर सकता।

बुध—क्यों, देखो वह तुम्हें देखते ही प्रेम करने लगी है।

सूनृता—चलिये विलम्ब हो रहा है। आह यह प्रदेश कितना सुन्दर है सुन्दर युवक ?

बुध—पुरुष भी कम सुन्दर नहीं है। मैंने तुम्हारा-ऐसा कोई सुन्दर पुरुष नहीं देखा, तुम्हारा नाम क्या है ?

सुद्युम्न—सुद्युम्न।

बुध—सुद्युम्न।

[सूनृता सतृष्ण नेत्रों से सुद्युम्न को देखती रहती है]

सुद्युम्न—चलो, चलो। रात्रि हो रही है।

[सब चले जाते हैं]

दूसरा दृश्य

(समय—प्रातःकाल)

[बुध अपने वर्ग के साथ सिन्धु-तट पर। सूनृता उसके साथ है। साधारण मार्ग। दोनों ओर कुटीर बने हैं। लोग आ-जा रहे हैं। दोनों खोये-खोये से सब लोगों को देख रहे हैं।]

सूनृता—वे अभी तक नहीं आये। बहुत विलम्ब हो चुका है।

बुध—आ तो जाना चाहिए। यद्यपि उन्होंने रात्रि को चलते समय मुझ से कहा था कि मैं प्रयत्न करूँगा कि आपको मनु के दर्शन हो जायँ। प्रातःकाल हो चुका। उनके दर्शन नहीं हो रहे हैं।

सूनृता—जब से मैंने सुद्युम्न को देखा है, उन्हें मैं विस्मृत नहीं कर पा रही हूँ, भाई।

बुध—न जाने क्या आकर्षण है उस व्यक्ति में। भोला मुख, अंत-र्भेदी विशाल नेत्र, मुख के शोभा के साथ ज्ञान जैसे बिखर रहा हो। (**एक व्यक्ति को पास से जाते देखकर**) आपसे······आपसे एक बात पूछनी है।

व्यक्ति—कहिये।

बुध—आप सुद्युम्न को जानते हैं?

व्यक्ति—(**आश्चर्य से**) सुद्यम्न कौन, यहां कोई भी सुद्युम्न है ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। (**ध्यान से देखकर**) आप क्या कल ही उत्तरापथ से पधारे हैं?

बुध—जी।

व्यक्ति—क्षमा कीजिये, मैं नहीं जानता। (**चला जाता है**)

बुध—लोग सुद्युम्न जैसे तेजस्वी युवक को नहीं जानते। आश्चर्य है!

[**एक अन्य व्यक्ति आता है। आगे बढ़कर**]

आर्य, आप सुद्युम्न को जानते हैं? मैं कल ही उत्तरापथ से आया हूँ। उनसे मिलना चाहता हूँ।

दू० व्यक्ति—अच्छा आप ही उत्तरापथ से पधारे हैं। यह बहुत अच्छा हुआ। प्रातःसेवन तो कर लिया होगा। नहीं किया तो कर लीजिये। मैं अत्रि के गोत्र में रहता हूँ। नमस्कार!

बुध—आप सुद्युम्न नाम के किसी व्यक्ति को जानते हैं?

दू० व्यक्ति—(**एक और बालक को बुलाकर**) यहां कोई सुद्युम्न हों तो इन्हें बता दो। (**बुध से**) मैं मंत्र-दर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। (**चला जाता है**)

बालक—सुद्युम्न को मैं बुला देता हूँ। आप ठहरिये। (**दौड़ जाता है**)

बुध—सूनृता, कितने भद्र हैं ये लोग। हम लोग तो इनके सम्मुख असभ्य हैं। यह प्रातःसेवन क्या होता है?

सूनृता—जानती तो मैं भी नहीं।

बुध—(**एक व्यक्ति से**) प्रातःसेवन क्या होता है महाशय?

व्यक्ति—**(आश्चर्य से)** आप प्रातःसेवन भी नहीं जानते ? आप कहां रहते हैं ?

बुध—हम लोग उत्तरापथ से कल आये हैं, कोई तीन सौ व्यक्ति ।

व्यक्ति—आप आर्य मनु से मिलिये वे बतावेंगे। हम लोग प्रातःकाल उठकर जो यज्ञ किया करते हैं उसे प्रातःसेवन कहते हैं। **(चला जाता है)**

बुध—यज्ञ क्या सनृता ?

सूनृता— न जाने। कहीं यह धूम तो नहीं। देखती हूँ, सब लोग अग्नि जलाकर कुछ बोल रहे हैं। चारों ओर विचित्र दृश्य है भाई ! **(बालक एक व्यक्ति को लेकर आता है।)**

बालक—ये आ गये।

बुध—आपका नाम—नहीं आप नहीं हैं। ये नहीं है भाई।

आगंतुक—क्या नहीं है।

बुध—आपका नाम सुद्युम्न नहीं है।

आगंतुक—जी। वस्तुतः पहले मेरा कृकल है किंतु मैंने नाम परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया है। सोचता हूं प्रद्युम्न रखूँ अथवा सुद्युम्न। यही कल मैंने इस बालक से कहा था। तो आपको मेरा कौनसा नाम ठीक ज्ञात होता है ? देखिये, जो आप कहेंगे वही नाम मैं रख लूँगा।

बुध—क्या तुम आर्य हो ?

आगंतुक—मैं दस्यु हूँ। मुझे आर्यों के साथ रहना प्रिय है, इसलिए मैं युद्ध के समय इन्हीं के साथ चला आया। हां, तो आप क्या निश्चय करते हैं ?

बुध—**(हँसकर)** नहीं आप जाइये।

सूनृता—**(बालक से)** सुद्युम्न कोई नहीं है क्या ?

आगंतुक—यदि इससे आपका कोई कार्य सिद्ध होता हो तो मैं सुद्युम्न नाम रख लूँगा। यदि आपको कष्ट न हो तो अवश्य परामर्श दीजिये।

सूनता—(**एक व्यक्ति को जाते देखकर**) देखो, वे हैं सुद्युम्न ?

मैं बुलाती हूं। (**दौड़कर बुलाती है। वह व्यक्ति आता है।**) आर्य, आप ही सुद्युम्न हैं न?

बुध—(**पास जाकर**) कहो सुद्युम्न, मैं कल से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ?

सूनृता—(**हँसकर**) तुम तो आर्य हो न? इतना विलम्ब क्यों कर दिया?

आगंतुक—कैसा विलम्ब?

बुध—कदाचित् सायंकाल के समय उत्तरापथ के द्वार पर हम लोगों का मिलना तो आप भूले न होंगे।

सूनृता—आर्य तो इतनी शीघ्र भूलने वाले नहीं होते।

आगंतुक—महाशय, मुझे क्षमा कीजिये। मैं आपको पहचान नहीं रहा हूँ। कल सायंकाल मैंने आपको नहीं देखा, यह मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ।

बुध—मेरा नाम बुध है।

सूनृता—मेरा नाम सूनृता। हम कल ही उत्तरापथ से यहां आए हैं।

आगंतुक—मैं आप दोनों का अभिवादन करता हूँ। मेरा नाम शर्याति है।

सूनृता—शर्याति, सुद्युम्न कहां है?

शर्याति—मैं सुद्युम्न को नहीं जानता।

सूनृता—आप सुद्युम्न को अवश्य जानते हैं। आप ही की तरह तो हैं वे।

बुध—वस्तुतः आप जैसे।

शर्याति—(**आश्चर्य से**) आपको भ्रम हुआ है। कहीं आपने मेरे किसी भाई को तो नहीं देखा?

सूनृता—हां, हां, हो सकता है।

शर्याति—किन्तु सुद्युम्न तो उनमें से किसी का नाम नहीं है। मैं आर्य मनु का पुत्र हूँ।

बुध—मैं आर्य मनु से मिलना चाहता हूँ।

शर्याति—किन्तु वे इस समय समाधिस्थ हैं। आज सायंकाल को मिल सकेंगे।

सूनृता—शर्याति, सुद्युम्न बहुत सुन्दर युवक हैं ?

शर्याति—आप कहां ठहरे हैं ? मैं सायंकाल आपको पिता मनु से मिला दूँगा। अब आज्ञा दीजिये (**सूनृता को सतृष्ण नेत्रों से देखता है**)

बुध—(**ध्यान में**) आश्चर्य है लोग सुद्युम्न को नहीं जानते। अस्तु, सायंकाल हम लोग आज मनु से मिलने को उद्यत रहेंगे।

शर्याति—(**जाते-जाते लौटकर**) आपका नाम ?

बुध—बुध।

शर्याति—ये क्या आपकी भगिनी हैं ?

सूनृता—इनके पिता ने मेरा पालन-पोषण किया है। मैं इनको अपना भाई मानती हूँ। हम दोनों एक ही गोत्र के हैं।

शर्याति—ठीक है। अच्छा, मैं सायंकाल के समय आऊँगा।

[**चला जाता है। एक और व्यक्ति का प्रवेश**]

व्यक्ति—(**उन्हें लौटते देखकर**) सुनिये, आपका नाम आर्य बुध है न ?

बुध—(**लौटकर**) हां, हां कहिये।

व्यक्ति—आपको यहां किसी प्रकार कष्ट तो नहीं है ?

बुध—नहीं, किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। प्रातःकाल होते-होते सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री कुछ व्यक्ति आकर रख गये। आपको किसने भेजा है ?

व्यक्ति—इन गोत्रों के व्यक्तियों की आवश्यकता को ध्यान में रखता हूँ।

[**आकृति से सुद्युम्न को पहचानकर**]

बुध—क्या आपका नाम मैं पूछ सकता हूँ ?

व्यक्ति—मेरा नाम इक्ष्वाकु है। मैं आर्य मनु का पुत्र हूँ।

सूनृता—आपकी आकृति सुद्युम्न से बहुत मिलती है।

इक्ष्वाकु—सुद्युम्न कौन, मैं उन्हें नहीं जानता। आपको और किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है?

बुध—नहीं, आपकी कृपा है।

[इडा का प्रवेश]

इडा—भाई, आप यहां हैं? क्या आज वर्गों को युद्धकला का ज्ञान नहीं दिया जायगा?

इक्ष्वाकु—अवश्य। **(बुध से)** क्या आपके वर्ग में ऐसे व्यक्ति हैं, जो युद्ध-विद्या सीखना चाहते हों?

बुध—मैं स्वयं सीखना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त और बहुत से व्यक्ति हैं, जो इस प्रक्रिया में निपुणता प्राप्त करना चाहेंगे। क्यों ऐसी क्या आवश्यकता हो गई, हम सभी लोग साधारणतया युद्ध-विद्या जानते हैं।

इक्ष्वाकु—बात यह है कि इधर अपनी शिथिलता के कारण हम लोग दस्यु, दानवों से पराजित हो गये हैं। इसलिए सिन्धु के इस पार हमको हटना पड़ा है। अब पूर्ण संगठन के साथ वर्षा के पश्चात् हम लोग शत्रु पर आक्रमण करेंगे। उस कार्य के लिए मैं आर्यों को युद्ध के लिए उद्यत कर रहा हूँ।

सूनृता—हां, यही तो कल आर्य सुद्युम्न ने कहा था।

इक्ष्वाकु—यह आर्य सुद्युम्न कौन हैं?

बुध—न जाने, कल सायंकाल के समय एक सज्जन हमको उत्तरापथ की घाटी के बाहर मिले थे। वे देखने में आप-जैसे ही थे।

इडा—क्या नाम बताया था उन्होंने?

बुध—सुद्युम्न। क्या आप जानती हैं सुद्युम्न कौन हैं?

इक्ष्वाकु—सुद्युम्न को हम लोग नहीं जानते।

इडा—तो क्या वे कल आपको उत्तरापथ की घाटी के पास मिले थे?

सूनृता—जी। वे ही तो हम लोगों को लेकर यहाँ आये थे।

बुध—आश्चर्य है, न जाने वे कौन थे? **(ध्यान से देखता है। इडा से)**

आप ही जैसे सचमुच।

इडा—मैं सुद्युम्न को जानती हूँ। वे प्रातःकाल ही बाहर चले गये हैं। मैं उनको आपके पास भेज दूँगी।

इक्ष्वाकु—सुद्युम्न कौन हैं इडा बहन?

इडा—सुद्युम्न एक आर्य हैं। आप उन्हें नहीं जानते?

बुध—मेरी ये बहन उनसे विवाह करना चाहती हैं।

सूनृता—आपके एक भाई शर्याति भी तो हैं?

इडा—हां, शर्याति बड़ा उद्धत युवक है।

इक्ष्वाकु—शर्याति बड़ा तेजस्वी है आर्य?

बुध—(**इडा से**) आपकी मैंने बड़ी ख्याति सुनी थी। (**सतृष्ण नेत्रों से देखता है।**)

इडा—आजकल हम लोग युद्धोद्योग में संलग्न हैं आर्य!

बुध—क्या आप आर्य सुद्युम्न को कृपा करके भेज सकेंगी?

इडा—अवश्य।

बुध—अनुगृहीत हुआ। यह प्रदेश तो बड़ा सुन्दर है। हम लोग जहां से आये हैं, उधर शीत की अधिकता से प्राण निकलते हैं।

इक्ष्वाकु—सिन्धु के उस पार देखिये। इससे भी सुन्दर प्रदेश है। हम लोग वर्षा के पश्चात् आक्रमण करेंगे।

बुध—ठीक है। (**सब चले जाते हैं। बुध इडा को पुकारकर**) क्या सुद्युम्न आपके साथ न आ सकेंगे?

इडा—देखिये, मुझे इन दिनों तनिक भी अवकाश नहीं है। मैं चाहती हूँ आप हमें कुछ सहायता दें।

बुध—मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि मैं आपके किसी काम आ सकूँ।

इडा—(**तेजी से**) यह मेरा कार्य नहीं है। समस्त आर्यजाति का कार्य है। महाशय, ज्ञात होता है आपको स्त्रियों के साथ व्यवहार करना भी नहीं आता।

बुध—(**घबराकर**) क्या मैंने कोई अनुचित बात कह दी है? मुझे क्षमा कीजिये। मैं आपके यहाँ की शिष्टता से अनभिज्ञ हूँ।

इडा—भविष्य में ध्यान रखिये।

[**तेजी से चली जाती है**]

बुध—सुद्युम्न ने अनुचित नहीं कहा था।

तीसरा दृश्य

[**समय—सायंकाल। सिन्धु के तट पर मनु ध्यान-मग्न अवस्था में। समाधि अभी खुल रही है। विश्वामित्र, वशिष्ठ, इक्ष्वाकु आदि बहुत से व्यक्ति प्रतीक्षा में बैठे हैं। तेजस्वी मनु धीरे-धीरे नेत्र खोलकर चारों ओर देख रहे हैं। मनु ऋषियों को देखकर प्रणाम करके**]

मनु—(**मुसकराते हुए**)वास्तविक शान्ति आत्मा में है। श्रद्धा के बलिदान के बाद मेरा चित्त बहुत कुछ विक्षुब्ध हो गया था। इसीलिए कदाचित् वेद ने नारी को अर्धांगिनी माना है कि वह हृदय, आत्मा और शरीर की सभी चेष्टाओं की संगिनी है।

अत्रि—श्रद्धा का यज्ञ में प्रशंसनीय विश्वास था! उतना यदि हम लोगों का हो जाय तो आत्मिक शान्ति का इससे सुगम मार्ग और नहीं हो सकता आर्य मनु!

वशिष्ठ—आपने आर्य-जाति की रक्षा के लिए जन्म लिया है इस-लिए आपका प्रत्येक कार्य परोपकार के लिए है। श्रद्धा का बलिदान भी यज्ञ की दृढ़ता के लिए हुआ है। और तो और उन दुष्ट आकुलि और किरात को हम लोग भी न पहचान सके। अन्यथा बलि के लिए सामग्री उपस्थित करते देख हम उनको अवश्य पकड़ लेते।

इक्ष्वाकु—हम लोगों के यज्ञ प्रारंभ करते ही जब वे वेश बदलकर हमारे दासों के रूप में आये तो मैंने उनसे पूछा कि तुम कौन हो? उन्होंने बताया कि हम कृकल और वृत्र के भाई हैं। आर्य मनु की सेवा करने आये हैं।

मनु—इसीलिए शत्रु-पक्ष पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

इक्ष्वाकु—इस विश्वास के कारण ही उन दोनों ने बलि की सामग्री में हमारी माता को मारकर हविष्य के रूप में उनके शरीर को हमारे सामने लाकर रख दिया।

विश्वामित्र—इधर आपको श्रद्धा के वियोग में तप करते देखकर हमने इडा की प्रेरणा तथा आपके पुत्रों की सहायता से एक विशाल सेना तैयार कर ली है। उसमें सभी ऋषियों के पुत्र सम्मिलित हैं।

मनु—यह ठीक हुआ है। पराजित होने के पश्चात् यज्ञ करते हुए मैंने आपसे निवेदन किया था कि इस पराजय के कलंक को धो डालने का एकमात्र उपाय है युद्ध। मैं किसी के विरुद्ध नहीं हूँ। प्रत्येक जाति को संसार में जीवित रहने का अधिकार मिलना चाहिए। दस्यु भी उतनी ही स्वतंत्रता के अधिकारी हैं जितने कि हम आर्य लोग।

इक्ष्वाकु—किन्तु पिता······हम लोग तो आर्य हैं न? आर्य-धर्म, आर्य-जाति ही (**बुध, शर्याति, सूनृता तथा अन्य आर्यों का प्रवेश**) संसार में श्रेष्ठ है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम जहां दस्युओं को शिक्षित करें, वहां अपनी संस्कृति द्वारा उनको उन्नत भी बनावें?

प्रांशु—वह सब प्रेम से होगा। धीरे-धीरे उनमें अपनी सद्भावना का विश्वास उत्पन्न करने से होगा। मेरा तो विश्वास है यदि हम आर्य लोग उनको अपना केवल दास ही न बनाकर उन्हें अपने समान भी समझते तो यह युद्ध न होता। तुम इतनी-सी बात नहीं समझते।

मनु—साधारणतया यह सब सत्य होते हुए भी मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने सामने विरोधी प्रवृत्तियों के आते ही उन्हें दबाने के लिए संघर्ष करता है। मनुष्य स्वभावतः जिस वातावरण, जिस अवस्था में पलता है उसका स्वभाव वैसा ही हो जाता है। मनुष्य वातावरण का प्राणी है। भिन्न वातावरण में आते ही उसकी प्रकृति विद्रोह करने लगती है। दस्युओं की भी यही दशा है।

नाभागोद्दिष्ट—किन्तु दानवों, राक्षसों का ठीक होना क्या सम्भव है?

मेरा विश्वास है इनको न तो आर्य बनाया जा सकता है और न ये कभी ठीक ही हो सकते हैं।

मनु—दानव, राक्षस, दैत्य मनुष्य जाति में नहीं हैं। ये लोग विचार और आकृति में भी पशु हैं। पशु-पक्षी और मनुष्य के बीच में जो शृङ्खला है उसी वर्ग के ये लोग हैं। किन्तु यह जाति अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती। यदि आप इनकी प्राचीनता की खोज करें तो ज्ञात होगा कि यह जाति अब दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जा रही है। इससे मुझे कोई भय भी नहीं है।

इक्ष्वाकु—तीन सौ आर्यों के साथ आर्य बुध कल उत्तरापथ से आये हैं। (**परिचय देने पर बुध मनु को प्रणाम करता है**) ये इनकी बहन सूनृता हैं। (**दोनों के प्रणाम को मनु स्वीकार करते हैं।**) आर्य बुध ने हमारे वर्ग को सहयोग दिया है, युद्ध की कुछ कलाएँ भी उन्होंने हमको बताई हैं।

बुध—आपका दर्शन करके मैं कृतकृत्य हुआ मनु आर्य! मैं बहुत दिनों से आपका नाम सुनता आ रहा था। इसी लालसा को लेकर मैं हिमालय के शिखर से उतरा हूँ।

इडा—(**आँखों में हँसकर**) बुध हमारे लिए एक प्रेरणा हैं पिता?

इक्ष्वाकु—और मेरे इस युद्ध-विजय की सूचना भी।

शर्याति—इनकी बहन, मेरी वाणी है सूनृता।

मनु—आप लोग युद्ध की तैयारी कीजिये। इस शरद् में हम लोग आक्रमण करेंगे।

बुध—(**इडा से धीरे हँसकर**) क्या अभद्र की भी प्रशंसा होती है आपके यहां?

इडा—आपने उस दिन जो कहा था कि यह पराजय विजय में बदलनी चाहिए, हम लोग उसी प्रेरणा के अनुसार काम कर रहे हैं।

इक्ष्वाकु—नाभाग नावें बनवा रहे हैं। धृष्ट मनुष्यों को बाण-विद्या सिखा रहे हैं। नारिष्यंत और प्रांशु शत्रु पर आक्रमण करके विजय

प्राप्त करने की विधि बताते हैं।

मनु—और बेटी इडा?

इक्ष्वाकु—वस्तुतः सभी कुछ बहन इडा ने किया है। इन्होंने गोत्रों में जा-जाकर व्यक्तियों को युद्ध के लिए प्रेरित किया है। इसके अतिरिक्त अपाला, घोषा, सूनृता, लोपामुद्रा आदि ऋषि-कन्याओं को इन्होंने स्वयं स्वावलंबी एवं युद्ध में क्षत-विक्षत आर्यों की सेवा का भार सौंपा है।

नाभाग—(**क्रोध से**) यह सब कुछ इडा ने किया है। हमने कुछ भी नहीं किया, नारी का युद्ध से क्या सम्बन्ध?

प्रांशु—इसमें बुरी बात क्या हुई? क्या वस्तुतः इडा ने दिन-रात एक करके कार्य नहीं किया?

नाभाग—तू मूर्ख है।

इक्ष्वाकु—तुम चुप रहो प्रांशु!

मनु—हूं। बल जहां मनुष्य का मित्र है वहां शत्रु भी है बेटा नाभाग!

वशिष्ठ—इस समय संपूर्ण वर्ग में युद्ध की लहर दौड़ गई है।

इडा—मैं सोचती हूँ कि युद्ध के उपरांत हम लोग इस प्रकार संगठित हों कि भविष्य में कभी भी शत्रु से परास्त न हो सकें।

मनु—वह तो वर्ण-विभाग के बिना असंभव है। इस पर मैंने बहुत विचार किया है बेटी! इसके अतिरिक्त मैं इस युद्ध के लिए भी कुछ सेना-नायक तथा सर्वोपरि एक सेनापति की नियुक्ति करना चाहता हूँ। कल मैं सबका युद्ध-कौशल देखूँगा तभी निर्णय दूँगा। मैं चाहता हूँ सैनिकों को 'क्षत्रिय' संज्ञा दी जाय।

विश्वामित्र—यह पराजय हमारे ऊपर बड़ा कलंक है आर्य! इसको तो दूर करना ही होगा। हम लोगों का न तो यज्ञ में मन लगता है न उपासना में। प्रत्येक प्राणी युद्ध ही युद्ध पुकार रहा है।

मनु—यह शुभ लक्षण है आर्य! मैं इन वीरों को साधुवाद देता हूँ कि इन्होंने अपनी असावधानी से लाभ उठाया। यही तो क्षत्रियता है।

अत्रि—ईश्वर आपका कल्याण करे मनु ! यह पराजय हमारे लिए कलंक है। हमारा चित्त बहुत ही विचलित हो गया है।

मनु—इन्द्र की उपासना कीजिये वे ही हमारे युद्ध के देवता हैं। कल प्रातःकाल सेना का निरीक्षण होगा।

सब—हम लोग उद्यत हैं। (**'आर्य मनु की जय' के साथ सभा समाप्त होती है। सब लोग उठकर चले जाते हैं। केवल बुध की प्रार्थना पर इडा रह जाती है।**)

बुध—मुझे आपके दर्शनों की बड़ी लालसा थी इडा देवी ?

इडा—सुद्युम्न आज रात्रि को आपसे मिलेंगे। मैंने उनसे कह दिया है।

बुध—वे इस अवसर पर क्यों नहीं आये इडा ?

इडा—कदाचित् उन्हें कोई कार्य विशेष होगा। **(जाने लगती है)**

बुध—क्या आप कुछ समय ठहर नहीं सकतीं ?

इडा—**(क्रोध भरी दृष्टि से)** नहीं, मुझे कार्य है। मैं अभी जा रही हूँ। क्षमा कीजिये।

बुध—मैं तुमसे······ **(कहते-कहते रुककर)**

[इडा बिना कुछ उत्तर दिये प्रणाम करके चली जाती है। अकेले में]

इडा—तुम्हारी क्रोधभंगिमा भी मेरे स्वर्ग का स्वप्न है।

चौथा दृश्य

[सिन्धु नदी का तट। चन्द्रमा की किरणें बिखरकर लहरों से अठखेलियाँ कर रही हैं। सब ओर प्रकाश फैल रहा है। सब ओर सुन-सान है। सुद्युम्न और बुध का प्रवेश]

सुद्युम्न—इसी स्थान पर क्यों नहीं बैठते ? देखो, यह कितना सुन्दर स्थान है ! तुम्हारी तरह मनोरम !

बुध—**(उन्मन-सा)** मेरी तरह नहीं तुम्हारी तरह अप्रत्यक्ष। तुम से

बहुत-कुछ कहना है आय सुद्युम्न ! आज मुझे ज्ञात हुआ है, तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता केवल इडा देवी जानती हैं। क्या तुम उनके कोई गुप्तचर हो ?

सुद्युम्न—हां, इडा की मेरे ऊपर बहुत कृपा है। मैं उनकी इच्छा के अनुसार युद्ध-योजना में संलग्न रहता हूँ। तुम उदास क्यों हो ?

बुध—इसलिए कि तुम सदा अदृश्य रहते हो। जब से मैंने तुम्हें देखा है तभी से मैं तुमको अपना मित्र मानने लगा हूँ। किन्तु तुम्हारी गति-विधि ही कुछ समझ में नहीं आती। देखो, ुम इडा देवी के गुप्तचर हो। क्या उनसे मेरा एक कार्य न करा दोगे ?

सुद्युम्न—क्या ?

बुध—मैं इडा देवी से प्रेम करता हूँ, किन्ु वे सीधे मुख बात ही नहीं करतीं। आज सभा के पश्चात् मैंने उनसे कुछ निवेदन करना चाहा, किन्तु वे बिना उत्तर दिये प्रणाम करके चली गईं। वे मुझे अभद्र समझती हैं।

सुद्युम्न—उनका स्वभाव ही ऐसा है। वह देखने में जितनी सुन्दर है उतनी ही कठोर, मैंने तुमसे कहा था न ?

बुध—किन्तु मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकता। मैंने कल्पना में जिस मूर्ति का निर्माण किया था यह उससे भी सुन्दर हैं ? क्या तुम उत्तरापथ की उस घाटी के द्वार पर रहते हो और इसीलिए हर समय नहीं मिल सकते ?

सुद्युम्न—इडा मुझे जहां भेज देती हैं वहीं रहता हूँ। कदाचित् ही इडा तुमसे प्रेम कर सकें।

बुध—क्यों ? क्या मैं असुन्दर हूँ, निर्बल हूँ। यदि मैं चाहूँ तो केवल अपने वर्ग के लोगों को लेकर ही युद्ध-विजय कर सकता हूँ।

सुद्युम्न—यदि तुम्हारी बात इडा को ज्ञात हो जाय तो वे अवश्य प्रसन्न होंगी।

बुध—तो तुम यह बात उनके कानों में डाल देना।

सुद्युम्न—सत्य तो यह है कि इडा तुमको चाहती हैं।

बुध—कैसे-कैसे ?

सुद्युम्न—आज प्रातःकाल जब मैं उनके पास गया तो न जाने क्यों बारबार तुम्हारा नाम पृथ्वी पर लिख रहीं थीं।

बुध—अच्छा, किन्तु मुझे कैसे ज्ञात हो ?

सुद्युम्न—इसका कोई उपाय नहीं है। वे स्वभाव से गम्भीर हैं। वे ऐसी कोई बात अपने ुख से न निकालेंगी जिससे ज्ञात हो कि वे तुम्हें प्रेम करती हैं।

बुध—**(उदास होकर)** फिर ? वे तो मुझे अभद्र समझती हैं सुद्युम्न ?

सुद्युम्न—**(सोचकर)** फिर भी मेरा विश्वास है कि वे तुम्हें प्यार करती हैं ?

बुध—किन्तु मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकता। मैं युद्ध से पूर्व ही कहीं चला जाऊँगा। किन्तु तुम मेरी बहन सूनृता से विवाह क्यों नहीं कर लेते ?

सुद्युम्न—मैंने अपने विवाह का निश्चय कर लिया है। इसी से मैं सूनृता से विवाह नहीं कर सकता।

बुध—कहाँ ?

सुद्युम्न—उसको बताने से तुम्हें कोई लाभ नहीं है।

बुध—तो तुम निश्चयपूर्वक कहते हो कि इडा मुझ से प्रेम करती हैं।

सुद्युम्न—ऐसा मुझे ज्ञात हो रहा था। **(बुध उदास होकर उठकर चलने लगता है। सुद्युम्न उसके पास जाकर)** तुम क्या सोच रहे हो ?

बुध—सोच रहा हूँ यह ुझे क्या होता जा रहा है ? **(सुद्युम्न के हाथों को अपने हाथ में लेकर)** मैं इडा के बिना जीवित नहीं रह सकता सुद्युम्न !

सुद्युम्न—मुझे बड़ा खेद है। हाँ, यदि मैं स्त्री होती तो अवश्य तुम से ही विवाह करती।

बुध—न जाने विधाता ने तुम्हें इतना सुन्दर बनाकर भी पुरुष क्यों बनाया ?

सुद्युम्न—(**रूठकर**) तो क्या पुरुष सुन्दर नहीं होते ?

बुध—किन्तु स्त्री का सौन्दर्य पुरुष ही देख सकता है स्त्री नहीं। फिर भी कभी-कभी मुझे ज्ञात होता है जैसे तुम पुरुष न होकर स्त्री ही हो।

सुद्युम्न—यह तुम्हारा भ्रम है।

बुध—भ्रम तो है ही। किन्तु मुझे ऐसा लगता है, इसके लिए मैं क्या करूँ ? भ्रान्ति का भी तो अस्तित्व है ही सुद्युम्न ?

सुद्युम्न—भ्रान्ति का अस्तित्व बुद्धि में होता है, वस्तु तो शुद्ध ही होती है आर्य ! अच्छा, कल्पना करो कि मैं स्त्री ही हूँ, फिर तुम क्या करोगे ?

बुध—पत्थर में आहार की कल्पना करके उदर तो नहीं भरता न ?

सुद्युम्न—तो जाओ सो मैं तुम से न बोलूँगा। तुम मुझे पत्थर समझते हो। (**रूठकर जाने लगता है।**)

बुध—नहीं, नहीं, मैंने तो दृष्टान्त दिया है भाई ! अच्छा मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम स्त्री हो किन्तु (**फिर ठिठककर**) नहीं, नहीं, छोड़ो इन बातों को, आओ इडा के सम्बन्ध में बातें करें।

सुद्युम्न—कल्पना करो कि मैं इडा हूँ, अब फिर ?

बुध—तो मैं कहूँगा तुम अद्वितीय रूपवती हो प्रिये !

सुद्युम्न—फिर ?

बुध—फिर क्या, इडा कुछ उत्तर तो देंगी ही। वह तुम उत्तर दो।

सुद्युम्न—हाँ, उसने उत्तर दिया। आगे क्या कहोगे ?

बुध—(**हंसकर**) आगे तो उसके उत्तर पर निर्भर होगा न ?

सुद्युम्न—अच्छा मान लो उसने उत्तर दिया कि मैं कुरूप हूँ।

बुध—यह मैं मान नहीं सकता। कोई स्त्री प्रियतम के सम्मुख अपने को कुरूप न कहेगी।

सुद्युम्न—तो क्या कहेगी ?

बुध—वह कहेगी—तुम भी बड़े सुन्दर हो प्रियतम ?

सुद्युम्न—समझ लो मैंने वही कहा—आगे ?

बुध—समझ लो नहीं, कहो।

सुद्युम्न—तुम भी बड़े सुन्दर हो प्रियतम !

बुध—तब मैं उसके शरीर पर हाथ रख दूँगा। (**हाथ रख देता है, सुद्युम्न को एकदम रोमांच हो जाता है**) हैं, तुम काँप क्यों रहे हो ?

सुद्युम्न—न जाने क्यों ऐसा हो गया ? जाने दो। अब मैं अवश्य इडा से तुम्हारे प्रेम का वर्णन करूँगा। किन्तु यह स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है किसलिए ?

बुध—यह तो स्वाभाविक है भाई।

सुद्युम्न—स्वाभाविक होते हुए भी सृष्टि-निर्माण इसके मूल में है। पिता मनु यही तो कहते हैं।

बुध—सृष्टि की उत्पत्ति किस लिए है ?

सुद्युम्न—सृष्टि जीवन का विकास है। यही तो वेद कहता है।

बुध—यदि न हो तो क्या हानि है ?

सुद्युम्न—न होना अस्वाभाविक है। इस सृष्टि का होना भी स्वभाव है ?

बुध—यह स्वभाव की प्रेरणा किसने दी ?

सुद्युम्न—प्रलय ने ? प्रलय अर्थात् नाश प्रकृति है और जीवन विकृति है। प्रकृति एक-सी अपने रूप में कभी नहीं रह सकती। उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। वह परिवर्तन ही जीवन है, उसी का दूसरा नाम सृष्टि है।

बुध—यदि मनुष्य की सृष्टि न होकर पशु-पक्षियों की ही सृष्टि होती तो क्या हानि थी ?

सुद्युम्न—यह भी असम्भव है। पशु-पक्षी के बाद मनुष्य का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। यह तो जीवन का विकास है। विकास को कौन रोक सकता है ?

बुध—मनुष्य के पश्चात् क्या होगा ?

सुद्युम्न--मनुष्य के बाद भी मनुष्य। अधिक विकसित मनुष्य। मनुष्य प्राकृतिक परिश्रम की पराकाष्ठा है। हां, उसकी श्रेणियां हैं। उन्हीं श्रेणियों में वह विकास की पराकाष्ठा तक पहुँचेगा। उसी में बराबर संघर्ष होते रहेंगे। वह मनुष्य का नहीं उसकी प्रकृतियों का संघर्ष होगा। उस संघर्ष में ही जीवन का अन्त है।

बुध—क्या मनुष्य कभी देवता नहीं बनेगा ?

सुद्युम्न—यह भी तो एक प्रकृति है। श्रेष्ठ प्रकृतियां ही उसको देवता बनाती हैं। निकृष्ट प्रकृतियों से वह नीचतम श्रेणी का मनुष्य बना रहता है।

बुध—क्या तुम बता सकते हो, इस सृष्टि का अन्त कहाँ है ?

सुद्युम्न—जहाँ इस नदी का अन्त है।

बुध—समझा नहीं।

सुद्युम्न—जिस प्रकार इन नदियों का अन्त सागर में है, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण विश्व का अन्त, जिसमें प्राण वर्तमान है, महाप्राण में है। महाप्राण न प्रकाश है न अन्धकार। न जीवन है न मरण।

बुध—तब वह क्या है ?

सुद्युम्न—वह प्रलय अन्धकार होते हुए भी वास्तविक है स्वयं अन्धकार नहीं है। उसमें गति है, आलोक है और सब कुछ है, किन्तु वह स्वयं क्या है, यह कहा नहीं जा सकता।

बुध—तुम तो बड़े ज्ञानी भी हो।

सुद्युम्न—ज्ञान चिन्तन से प्राप्त होता है। पिता कहते हैं कि तुम अपना मार्ग स्वयं खोजकर निकालो। तुम्हारे सब समाधान तुम्हारे भीतर हैं। जैसे हमारे ज्ञान में प्रश्न उठते हैं वैसे ही उनके उत्तर भी हमारे ही ज्ञान में हैं। जानते हो पिता ने हमारा नाम मनुष्य क्यों रखा है ?

बुध—इसलिए कि हम मनु के निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हैं। मैं तुम्हें बताऊँ सुद्युम्न, जैसे हम इधर आये हैं वैसे ही कुछ लोग इधर से भी

उधर गये हैं। उन्होंने मनु के निर्दिष्ट माग का पाठ वहाँ के लोगों को पढ़ाया है।

सुद्युम्न—हाँ, मैंने स्वयं कुछ लोगों को लौटते देखा है।

बुध—चलो बहुत समय हो गया। सुद्युम्न मैं नहीं जानता था तुम में इतना ज्ञान है। क्या ही अच्छा होता कि इडा···

सुद्युम्न—मैं इडा से इस सम्बन्ध में कहूँगा।

बुध—यदि कहो तो मैं उनसे स्वयं मिलूँ? जब तुम आज की बातें उन्हें सुना दोगे तब मैं उनसे मिलूँगा।

सुद्युम्न—हाँ ठीक है? **(दोनों एक ओर से निकल जाते हैं। शर्याति और सूनृता का प्रवेश)**

शर्याति—कदाचित् यहाँ भी आर्य बुध नहीं हैं।

सूनृता—न जाने कहां चले गये? सुद्युम्न के साथ इधर ही तो वे आये थे?

शर्याति—यह सुद्युन्न कौन है?

सूनृता—शर्याति, तुम्हें क्या बताऊँ मैं सुद्युम्न से कितना प्रेम करती हूँ।

शर्याति—(**उदास होकर**) मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ सुद्युम्न नाम का कोई मनुष्य इस सारे वर्ग में नहीं है।

सूनृता—मैं कैसे कहूँ कि सुद्युम्न नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। वे हमारे साथ ही तो मार्ग दिखाते यहाँ आये। फिर अभी बुध उनके साथ इस तट की ओर आये हैं?

शर्याति—आश्चर्य है?

सूनृता—आश्चर्य नहीं सत्य है शर्याति?

शर्याति—यदि सुद्युम्न कोई व्यक्ति न हुआ तो···(**उसकी आँखों में देखकर**) फिर?

सूनृता—तो मैं क्या कहूँ शर्याति, तुम ऐसे क्यों देख रहे हो?

शर्याति—कैसे सूनृता?

सूनृता—जैसे मैं सुद्युम्न को देखना चाहती हूँ।

शर्याति—मैं तुमको सुद्युम्न की तरह देखना चाहता हूँ प्रत्यक्ष शर्याति बनकर?

सूनृता—नहीं, नहीं, तुम ऐसे मत देखो शर्याति? मैं सुद्युम्न को वरण कर चुकी हूँ। मैंने उनसे कई बार प्रार्थना की किन्तु···

शर्याति—उसने क्या उत्तर दिया?

सूनृता—उन्होंने जो उत्तर दिया वह बड़ा हृदय-विदारक है शर्याति?

शर्याति—क्या?

सूनृता—यही कि मैं किसी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।

[एक स्थल पर बैठ जाती है। शर्याति उसके समीप बैठकर]

शर्याति—सुद्युम्न ने यह उत्तर दिया?

सूनृता—हाँ शर्याति, तुम क्या सोच रहे हो?

शर्याति—कुछ नहीं यही कि सुद्युम्न कौन है?

सूनृता—**(शर्याति के कन्धे पर हाथ रखकर)** कौन हैं वह?

शर्याति—यही तो सोच रहा हूँ कि वह कौन है। यदि सुद्युम्न पुरुष न होकर स्त्री हो तो?

सूनृता—क्या यह कभी सम्भव है? नहीं, यह कभी सम्भव नहीं है शर्याति? मुझे तो कभी-कभी तुम्हें देखकर सुद्युम्न का भ्रम हो जाता है। उस दिन भी ऐसा ही हुआ?

शर्याति—आश्चर्य है? **(सोचता रहता है)**

सूनृता—चलो चलें। वे यहाँ नहीं हैं।

[ठहरकर]

शर्याति—मेरा विश्वास है सुद्युम्न ने जब स्त्री से विवाह न करने को कहा है तब अवश्य इसमें कोई रहस्य है।

सूनृता—मैं बहुत दुखी हूँ शर्याति! न जाने क्यों सुद्युम्न को देखते ही मैं उनसे प्रेम करने लगी।

शर्याति—क्या तुम्हारा विश्वास है मेरी आकृति सुद्युम्न से

मिलती है ।

सूनृता—हाँ, तुम दोनों की आकृति एक-सी है।

शर्याति—तब अवश्य कोई मेरा भाई होगा। हम लोग दस भाई-बहन हैं!

सूनृता—तब निश्चय ही वे तुम्हारे भाई होंगे। निश्चय··· **(प्रसन्न होती है।)**

शर्याति—किन्तु उनमें से किसी का भी नाम सुद्युम्न नहीं है।

सूनृता—निश्चय ही उसका नाम सुद्युम्न है। मुझे अच्छी तरह याद है। सुद्युम्न हाँ, यही नाम तो है।

शर्याति—मैं सुद्युम्न को एक बार देखना चाहता हूँ सूनृता !

सूनृता—वे अभी-अभी तो आर्य बुध के साथ इस ओर आये हैं।

शर्याति—चलो ढूँढ़ें।

सूनृता—स्थल के मनुष्य बड़े रहस्यमय होते हैं शर्याति च···लो।

शर्याति—ठहरो, मैं एक बात कहना चाहता हूँ!

सूनृता—क्या? कहो, शीघ्र कहो, विलंब हो रहा है, मैं जानना चाहती हूँ कि वे दोनों कहां चले गये?

शर्याति—तो क्या तुम सुद्युम्न के साथ विवाह करना चाहती हो? यदि वह न करे तो!

सूनृता—तो भी मैं चाहती हूं कि वह मेरे साथ विवाह करें। मैं उनको चाहती हूँ शर्याति, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती।

शर्याति—इसी प्रकार यदि कोई युवक किसी कन्या के साथ विवाह किये बिना जीवित न रह सकता हो तो!

सूनृता—तो उस कन्या को चाहिए कि ऐसे प्रेमी से अवश्य विवाह करे। किन्तु यह क्या, तुम ऐसी बातें क्यों कह रहे हो?

शर्याति—सुनो सूनृता, मैंने जब से तुम्हें देखा है तब से मैं तुमसे प्रेम करने लगा हूँ।

सूनृता—**(घबराकर)** यह तो बुरी बात है शर्याति। मैं तुम से विवाह

कैसे कर सकती हूं ?

शर्याति—सूनृता, आर्यों का मन अस्थान पर कभी नहीं डिगता।

सूनृता—तुमने मुझे विभ्रम में डाल दिया। चलो **(मन में)** आर्यों का मन अस्थान पर नहीं डिगता। यह कितना सत्य है।

तीसरा अंक

पहला दृश्य

[सिन्धु के उस पार आर्यों के शिविर। मनु टहल रहे हैं एक ऊँचे शिखर पर जहाँ से युद्ध की कुछ भी गतिविधि दिखाई नहीं दे रही है।]

मनु—**(घूमते हुए)** आर्यों की इस विजय में ही उनकी उन्नति, उनका विकास निश्चित है। इस लम्बी नाक, विशाल मस्तक, लम्बे मुख वाली बुद्धिमान् जाति को जीवित रहना है उसे युद्ध तो करना ही पड़ेगा। बीज को भी तो पृथ्वी फोड़कर निकलते समय संघर्ष करना पड़ता है। नदी-प्रवाह को पर्वतों के उदर से निकलने के लिए पत्थरों को तोड़-फोड़कर, शिला-खण्डों, वृक्षों को पीसते, उखाड़ते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। सृष्टि प्रगति का नाम है, जो जीवन को अधिक-से-अधिक सुसंगत बना सकने पर ही सफल होगी। इस समय आर्यों के अतिरिक्त कोई ऐसी जाति भूतल पर नहीं है जिसकी संस्कृति से आने वाले संसार को लाभ हो सके। मुझे स्वर्ण के आभूषण गढ़कर जहां राजाओं के लिए मुकुट निर्माण करने होंगे वहां इन शिलाओं की सुन्दर मूर्तियों का भी निर्माण करना होगा। मेरा काम निर्माण करना है। मेरे पूर्वजों ने मनुष्य को पशु से भेद करना सिखाया। उनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्त्री-पुरुष की विवेचना उत्पन्न की, विचार दिये, विचारों के अनुसार अभिव्यंजना दी और अभिव्यंजना के अनुकूल भाषा दी। मैं मनुष्य में चिंतन-शक्ति दूँगा। उनके समाज का निर्माण करना मेरा कार्य है। कौन ? अरे शर्याति !

[शर्याति का प्रवेश]

शर्याति—पिता, शत्रु पूर्ण रूप से पराजित हो रहे हैं। राक्षस एक-

एक करके समाप्त हो रहे हैं। दस्युओं का साहस एक प्रकार से समाप्त-सा है पिता ?

मनु—ठीक हो रहा है किन्तु देखो, इक्ष्वाकु और बुध से मेरी ओर से कहना कि व्यर्थ की हत्या न करें। जैसे ही शत्रु अस्त्र डाल दें वैसे ही उन्हें बन्दी बना लिया जाय।

शर्याति—जो आज्ञा ! **(जाने लगता है)**

मनु—और देखो, उस वासुकि और चिन्न को जीवित पकड़ने की आवश्यकता है।

शर्याति—बहुत अच्छा पिता, बहन इडा भी युद्ध कर रही हैं।

मनु—अच्छा ! यह कन्या असाधारण है।

शर्याति—आर्य-बुध तो बड़े वीर निकले। उन्होंने शत्रु के छक्के छुड़ा दिये।

मनु—अच्छा है। यह न होता तो हमारे लिए कोई स्थान भी तो नहीं था।

[विश्वामित्र का प्रवेश]

विश्वामित्र—आर्य मनु, इस बार मेरा क्षत्रियत्व जागरूक हो गया। मैंने भी शत्रुओं का खूब ही दमन किया। **(रक्त पोंछते हैं)**

शर्याति—ऋषि विश्वामित्र जिस समय मन्त्र पढ़कर बाण छोड़ते थे उस समय राक्षसों में त्राहि-त्राहि मच जाती थी। **(जाता है)**

मनु—यह क्या, आपके हृदय से रक्त बह रहा है। सच्चे क्षत्रियों की पहचान रक्त-दान है। वस्तुतः आप जहाँ ब्रह्मर्षि हैं वहाँ राजर्षि भी हैं। **(उनके रक्त को पोंछते हैं। सूनृता दौड़कर जल लाती है। विश्वामित्र एक शिलाखण्ड पर बैठ जाते हैं। सूनृता उनका रक्त धोती है इसी के साथ नेपथ्य में 'जय जय' की ध्वनि सुनाई देती है।)** ज्ञात होता है, हम लोग पूर्ण रूप से विजयी हुए।

(बहुत से क्षत्रिय मनु के सन्मुख आते हैं। 'जय जय' करते हुए रुधिर में नहाये हुए, क्षत-विक्षत। मनु सबको प्रसन्नता की दृष्टि से

देखकर उनका स्वागत करते हैं। लोपामुद्रा, घोषा, अपाला तथा अन्य कई ऋषि-कन्याएं योद्धाओं की सेवा करती उन्हें ले जाती दिखाई देती हैं। इसके पश्चात् मनु के पुत्र, वशिष्ठ, अत्रि, आदि ऋषि आते हैं। 'सब एक स्वर से कहते हुए 'जय हो आर्यों की', 'जय हो मनु की'।)

बन्धुओ, मैं इस विजय पर आप सबको बधाई देता हूँ।

सब—यह आपके ही पुण्य प्रताप का फल है।

ऋषि—आर्य मनु, वस्तुतः तुमने ही आर्यों को पुनरुज्जीवित किया है।

सैनिक—हमारी विजय आपकी विजय है और आपकी विजय आर्य-जाति की विजय है।

मनु—मुझे ऋषियों के आशीर्वाद पर और आपके बल पर पूर्ण विश्वास था बन्धुओ! क्या वे वासुकि और चिन्न जीवित हैं।

इक्ष्वाकु—हम लोग आपकी आज्ञानुसार दोनों को जीवित पकड़कर लाये हैं। (**संकेत करने पर वे लाये जाते हैं।**)

मनु—(**वासुकि और चिन्न की ओर प्रेम से देखते हुए**) तुमने व्यर्थ ही इतना उपद्रव खड़ा करके हमको तथा अन्य आर्यों को इस परिस्थिति में डाला, क्या तुमको इसका कोई खेद नहीं है?

वासुकि—यह देश हमारा है तुम्हारा नहीं।

चिन्न—हम इस देश के स्वामी हैं। यह हमारा कर्तव्य था कि हम तुमको मारकर अथवा छल करके यहां से हटा देते। वही हमने किया।

मनु—तुम यह कैसे कह सकते हो कि यह भूमि तुम्हारी ही है?

वासुकि—इसलिए कि तुम न जाने कहाँ से यहाँ आ रहे हो? हम लोग इस देश के पुराने वासी हैं।

मनु—यह तुम्हारा भ्रम है भाई! हम लोग भी इसी भूमि के निवासी हैं। हिमालय इसी भूमि का पर्वत है। हम लोग केवल हिमालय से उतर कर स्थल में आने से विदेशी कैसे हो गये? जल-प्रलय के समय जितनी भूमि आज तुम यहाँ देखते हो वह सब कुछ नहीं थी। हिमालय की

उपत्यका तक जल ही जल था। उस समय भी मैं यहां था। उससे पूर्व भी हमारे आर्य इसी भूमि पर रहते थे।

चिन्न—किन्तु हमने तो सुना है आर्य लोग बाहर से आये हैं ?

मनु—यह तुम्हारा भ्रम है। इसके अतिरिक्त हम तुम पर कोई अत्याचार तो नहीं करते केवल तुम्हारे साथ मिलकर रहना चाहते हैं। तुम्हें इस पृथ्वी को भोगने का उतना ही अधिकार है जितना हमको।

वासुकि—आर्य लोग बुद्धिमान हैं। हम तुम्हारी अपेक्षा कम जानते हैं। यदि हम तुम लोगों में रहेंगे तो हमारे संस्कार, हमारी जाति नष्ट हो जायगी। इसीलिए हम आर्यों को इस भूमि पर नहीं रहने देना चाहते।

अत्रि—किन्तु तुम यह तो चाहते हो कि तुम भी आर्यों की तरह बुद्धिमान बन जाओ ?

चिन्न—हां, क्यों नहीं। किन्तु आपसे हमें भय भी कम नहीं है।

वशिष्ठ—जब तुम हम सब साथ-साथ रहेंगे तो तुम में भी वे ही भाव आ जायँगे जो हम में हैं।

मनु—स्पष्ट तो यह है कि हम बलवान् होते हुए भी तुम्हारा विनाश नहीं चाहते। यदि तुम्हें हमारे साथ भाई-भाई बनकर रहना हो तो हम उद्यत हैं। अन्यथा तुम्हें इस भूमि को छोड़ देना होगा।

वासुकि—हमको दास तो न बनाया जायगा ?

मनु—हम तुमको अपना स्वामी बना सकते हैं यदि तुम बन सको।

वासुकि—तो ठीक है हम लोग आर्यों के गोत्रों में समानाधिकार भोगते रहेंगे।

मनु—स्वीकार है। तुम्हारे ऊपर कोई अत्याचार न होगा।

वासुकि—हमारा कार्य क्या होगा।

मनु—जो काम तुम चुनो, जो तुम्हें स्वीकार हो। हम तुम्हारी रक्षा करेंगे, तुम्हें ज्ञान देंगे। तुम्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी कि दूसरों को कष्ट न पहुँचाते हुए सुख से रह सको। न हम तुम्हारे विचारों में बाधा देंगे और

न किसी प्रकार का कष्ट ही तुमको होगा।

वासुकि—तो हम कभी युद्ध नहीं करेंगे।

चिन्न—किन्तु मैं तो आर्यों के साथ नहीं रहना चाहता।

मनु—तो तुम जहां इच्छा हो जा सकते हो।

चिन्न—आर्य लोग हमें कष्ट तो न देंगे।

मनु—यदि तुम उनके मार्ग में आकर खड़े न होगे।

चिन्न—हम वनों में रहेंगे। हम से आर्यों से कोई सम्बन्ध नहीं।

मनु—जैसी तुम्हारी इच्छा। इडा और बुध कहां हैं?

इक्ष्वाकु—वे नहीं आये। न जाने क्या हुए?

मनु—हां, मेरी बेटी इडा को खोजो। वही मेरी बुद्धि है इक्ष्वाकु!

[जय-घोष के साथ सब चले जाते हैं। मनु खड़े-खड़े सोचते दिखाई देते हैं।]

दूसरा दृश्य

[समय—संध्या। वन में एक व्यक्ति सुद्युम्न पर आक्रमण कर रहा है। सुद्युम्न उसको अपने बाण से धराशायी कर देता है। इतने में पीछे से एक दस्यु कुंत लेकर उस पर टूट पड़ता है कि दोनों में मल्ल युद्ध होने लगता है। सुद्युम्न गिर जाता है। दस्यु कुंत से सुद्युम्न का सिर काटना ही चाहता था कि विजयी बुध उधर आ निकलता है और अचानक एक बाण से दस्यु को मारकर गिरा देता है। फिर भी बिना सुद्युम्न की ओर ध्यान दिये ही वह चलने लगता है। किन्तु सुद्युम्न के कराहने का शब्द सुनकर उसी तरफ लौटता है। जाकर देखता है कि सुद्युम्न क्षत-विक्षत, असंज्ञ होकर भूमि पर पड़ा है। बुध उसे देखते ही चिन्तित होकर]

बुध—सुद्युम्न, यह क्या हुआ? **(उसे देखता है और पास से जल लाकर उसके मुँह में डालकर देखता हुआ)** यह मैं क्या स्वप्न देख रहा

हूँ ? **(धीरे-धीरे से मुस्कराकर देखता रहता है)**

सुद्युम्न—(मूर्छित अवस्था में) बुध, आर्य बुध, प्रियतम ?

बुध—(खड़ा होकर प्रसन्नता को दबाता हुआ) मेरे अदृष्ट, तुम बड़े बलवान् हो। यह तो सुद्युम्न नहीं आर्या इडा हैं। देवी, इडा **(जल डालता है, चेतनता आती है)**

सुद्युम्न—(आँखें खोलकर मुस्कराता हुआ) तुम कब आये ?

बुध—अभी तुम्हारे कराहने का शब्द सुनकर। एक व्यक्ति तुम्हारे ऊपर आक्रमण कर रहा था न ? उसको मार देने के पश्चात् मैं तो जा रहा था किन्तु तुम्हारी बोली पहचानकर इधर दौड़ा। आज मैं कितना प्रसन्न हूँ सुद्युम्न ?

सुद्युम्न—क्यों ?

बुध—इसलिए कि छल का अन्त भी बड़ा मधुर निकला।

सुद्युम्न—छल, कैसा छल ?

बुध—छली उस आनन्द को कहां जान पाता है सुद्युम्न, जितना कि वह जिसे छला जाय।

सुद्युम्न—किन्तु आर्य लोग तो कभी किसी से छल नहीं करते। मैं तुम्हारी बात नहीं समझी।

बुध—'नहीं समझी' इसका सबसे बड़ा प्रमाण है इडा।

सुद्युम्न—(बनावटी क्रोध से) तुम मुझे इडा समझते हो। मैं सुद्युम्न हूँ।

बुध—नहीं, मैं कल्पना करता हूँ कि तुम इडा हो। आज मेरे नेत्र छले नहीं जा सकते, बुद्धि को बहकाया नहीं जा सकता इडा ?

सुद्युम्न—तुम क्या कह रहे हो ?

बुध—वही जो तुम हो। **(उठाता है)** इडा देवी !

इडा—प्रियतम, यह शरीर, यह आत्मा, यह मेरा मानस आज तुम्हारे चरणों में समर्पित है आर्य ? इसे स्वीकार करो। **(चरणों पर गिर जाती है। सुद्युम्न उठाता है।)**

बुध—मन, प्राण और बुद्धि से मैं तुम्हारा भक्त हूँ इडा। इस विजय का फल मुझे बड़ा मधुर मिला। आशातीत, अभूतपूर्व।

इडा—दो प्राणों का मिलन प्राणों की विजय है।

बुध—दो हृदयों का मिलन सृष्टि की विजय है इडा ?

इडा – तुम कितने सुन्दर हो प्रियतम ?

बुध—तुम कितनी निठुर हो प्रियतमे, कि तुम मुझे सदा छलती रहीं। किन्तु नहीं, मैं कहता हूं—प्रियतमे, तुम अद्वितीय हो। अब तुम इसका उत्तर क्या दोगी ? क्या यह कि प्रियतम—'मैं तो कुरूप हूं।' मैं अपनी तरफ से कहता हूं—'मैं कितना कुरूप, दीन, हीन हूं प्रियतमे ?'

इडा—वह मेरा सुद्युम्न का रूप था। **(दोनों हंसते हैं)**

बुध—भला तुमने यह पुरुष का रूप क्यों रक्खा ?

इडा—इस पराजय ने मुझे कितना विरक्त तथा दुखी बना दिया कि दिन-रात एक करके पुरुषों और स्त्रियों को युद्ध के लिए उकसाती थी। इसी बीच एक गोत्र से दूसरे गोत्र में जाते हुए मैंने अचानक पुरुष का वेश धारण कर लिया। वहां उन पुरुषों को मेरे इस रूप-परिवर्तन से बड़ा भ्रम हुआ। भेद खुलने पर हम लोग पहरों हँसते रहे। इसके पश्चात् अचानक उत्तरापथ की घाटी में उस दिन पुरुष-वेश में जा पहुंची। वहां तुम से भेंट होगई। फिर तुम से संपर्क रखने के लिए मैंने पुरुष-वेश बनाए रखना उचित समझा।

बुध—वह भी प्रायः साँझ को अथवा रात को।

इडा—किन्तु तुम इतने भोले निकले कि स्वर से भी न पहचान सके।

बुध—मुझे भ्रम तो होता था किन्तु इस रूप की कल्पना ही नहीं कर सकता था। यह तो मेरे जीवन में नई कल्पना है। यह कितना सुन्दर हुआ इडा ? किन्तु मुझे दुख है कि इससे बिचारी सूनृता का हृदय टूट जायगा।

इडा—मैं सूनृता का उपाय कर चुकी हूं। अच्छा, अब हम लोगों

को चलना चाहिए। पिता प्रतीक्षा में होंगे। (**चले जाते हैं। शर्याति सुद्युम्न के वेश में। पीछे से सूनृता का प्रवेश**)

सूनृता--सुद्युम्न, सुद्युम्न तुम हो क्या? तुमने इडा को देखा है?

सुद्युम्न—नहीं।

[**एक ओर को मुँह फेरकर बैठा रहता है**]

सूनृता--आर्य बुध को?

सुद्युम्न—नहीं।

सूनृता—सुद्युम्न, तुम कितने सुन्दर हो?

सुद्युम्न—(**चुप**)

सूनृता—(**इधर-उधर देखकर**) तुम चुप क्यों हो? क्या आर्य बुध की प्रतीक्षा में हो?

सुद्युम्न—नहीं।

सूनृता—तुम चुप क्यों हो?

सुद्युम्न—तुमने सुना, आर्य-बुध का गंधर्व विवाह बहन इडा से हो गया।

सूनृता—तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ?

सुद्युम्न—मैंने अभी उन दोनों को इस वन से निकलते देखा है।

सूनृता—यह कितनी अच्छी बात है सुद्युम्न। तुमसे एक बात कहूँ?

सुद्युम्न—क्या?

सूनृता—यही कि हम दोनों का विवाह हो जाय तो···

सुद्युम्न—नहीं, यह नहीं हो सकता।

सूनृता—क्यों नहीं हो सकता सुद्युम्न, क्या मैं कुरूप हूँ? तुम मेरी ओर देखो।

सुद्युम्न—(**उसके सामने हो जाती है। सुद्युम्न मुँह फेरकर**) हो तो अच्छी।

सूनृता—फिर क्या बात है?

सुद्युम्न—(**चुप**)

सूनृता—क्रुद्ध हो गये ?

सुद्युम्न—नहीं।

सूनृता—फिर ?

सुद्युम्न—एक ऋषि का शाप है कि सुद्युम्न किसी नारी से विवाह नहीं कर...।

सूनृता—हाँ, हाँ, कहो चुप क्यों हो गये ?

सुद्युम्न—जाने दो वह तुम को स्वीकार न होगा।

सूनृता—मुझे सब स्वीकार है सुद्युम्न, तुम जो कुछ कहोगे वही मैं करूँगी। आहा, कितनी अच्छी बात है कि भैया बुध का इडा के साथ विवाह हो गया। हाँ कहो ?

सुद्युम्न—सुद्युम्न केवल उसी नारी से विवाह कर सकता है जो विवाह के पश्चात् उसे सुद्युम्न कहकर न पुकारे ?

सूनृता—विचित्र बात है तो क्या कहकर पुकारे ?

सुद्युम्न—यह विवाह के पश्चात् निर्णय होगा।

सूनृता—स्वीकार है। किन्तु तुम मेरी ओर देखते क्यों नहीं ? इधर देखो, मैं वनफूल लगाकर आई हूँ।

सुद्युम्न—एक बात और।

सूनृता—क्या ?

सुद्युम्न—विवाह होने तक तुम सुद्युम्न की ओर न देखोगी। नहीं तो वह मर जायगा।

सूनृता—**(मन में)** कैसी पहेली है। अच्छा स्वीकार है।

सुद्युम्न—एक बात और।

सूनृता—क्या वह भी कहो। क्या तुम्हारे यहाँ विवाह इसी तरह होता है सुद्युम्न ?

सुद्युम्न—कहो, मैं तुम्हें मन, वाणी, कर्म से अपना पति स्वीकार करती हूँ।

सूनृता—**(रूठकर)** न कहूँ तो क्या तुम विवाह न करोगे ?

सुद्युम्न—नहीं तो विवाह नहीं हो सकता, अच्छा मैं जाता हूँ।

सूनृता—नहीं मैं कहती हूँ। मैं तुम्हें मन, वाणी और कर्म से अपना पति स्वीकार करती हूँ। बस ?

सुद्युम्न—हाँ ठीक है। चलो चलें। देखना मत।

सूनृता—तुम बड़े नटखट हो सुद्युम्न ? अच्छा चलो।

तीसरा दृश्य

[मनु और शश्वती परस्पर बातचीत कर रहे हैं। समय–यज्ञ के पश्चात् प्रातःकाल]

शश्वती—पिता, आपने जो वर्ण-विभाग किया है उससे लोग बहुत सन्तुष्ट दिखाई देते हैं। इस युद्ध ने क्षत्रियों के महत्त्व को बढ़ा दिया है। जो लोग पहले क्षत्रिय बनना स्वीकार नहीं करते थे वे अब गर्व का अनुभव करते हैं। किन्तु वैश्य बनना कोई भी स्वीकार नहीं करता।

मनु—मैंने तुम से कहा न शश्वती, कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। वह समय आने वाला है जब लोग वैश्य-वृत्ति को स्वीकार करेंगे। इसके अतिरिक्त मैं एक और बात सोच रहा हूँ कि राजा का निर्माण किया जाय।

शश्वती—राजा का किस प्रकार ? क्या जैसे देवताओं में इन्द्र हैं उस प्रकार ?

मनु—हां, जो योग्य हो, जिसमें शासन की क्षमता हो, जो प्रजा को पुत्र के समान समझे, वही राजा होने का अधिकारी है। आज यह बात मैंने विजयी क्षत्रियों को एकत्र करके कही थी।

शश्वती—यदि राजा अनुत्तरदायी हो और अत्याचार करे तो ?

मनु—प्रजा का यह कर्त्तव्य होगा कि उसे पदच्युत कर दे।

शश्वती—प्रजा के हाथ में कौन शक्ति है जो उसे पदच्युत कर सकेगी ?

मनु—प्रजा ही तो राजा का बल है शश्वती।

शश्वती—ठीक है।

[कुछ ऋषियों का प्रवेश]

ऋषि—जय मनु की! **(बैठते हैं)**

मनु—**(प्रणाम करके)** आइये ऋषिवर?

सब—हम आपसे एक प्रार्थना करने आये हैं कि आप राज्य-शासन अपने हाथ में लें। हम आपका साथ देंगे।

विश्वामित्र—हम आपको दशांश देंगे।

वशिष्ठ—अमात्य बनकर हम आपको सत्परामर्श देंगे!

शश्वती—ठीक है पिता, यही मेरे प्रश्न का उत्तर है। ब्राह्मण यदि उचित परामर्श देते रहें तो राजा अत्याचारी न हो सकेगा।

मनु—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों राज्य के सूत्रधार हैं ऋषिवर! ब्राह्मण मस्तक से, क्षत्रिय बाहुबल से, वैश्य धन से तथा शूद्र सेवा द्वारा यदि राज्य की सहायता करें तभी राज्य रूपी शरीर स्थिर रह सकेगा।

वशिष्ठ—हम चाहते हैं आप इस दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई आर्य-जाति को संगठित करने के लिए राजा होना स्वीकार करें।

अत्रि—बिना राजा के व्यवस्था ठीक नहीं रह सकेगी।

[क्षत्रिय-ब्राह्मण दल के दल आकर एकत्र होते हैं]

भृगु—आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं जो राज्य-शासन भली प्रकार चला सकते हैं। हमारी प्रार्थना है, आप राजा बनें।

सब—**(एक स्वर से)** मनु ही राजा होने के योग्य हैं? हमारी प्रार्थना है कि आर्य-जाति की रक्षा के लिए आप राजा होना स्वीकार करें। यही हम लोगों की इच्छा है।

मनु—**(खड़े होकर)** आपकी आज्ञा शिरोधार्य है किन्तु आपको मेरे बनाये नियमों को प्रत्येक अवस्था में स्वीकार करना होगा।

सब—स्वीकार है।

मनु—मैं केवल वही काम करूँगा जिसमें आपका कल्याण हो।

सब—स्वीकार है।

मनु—मैं वही सोचूँगा जिसमें प्रजा का हित हो।

सब—आप धन्य हैं?

मनु—मेरे लिए सब प्रजा एक-सी होगी।

सब—यही राजा का कर्त्तव्य है।

मनु—मैं सदा न्याय का पक्ष लूँगा और क्या उस न्याय के सामने आप अपने व्यक्तित्व की बलि दे सकेंगे?

सब—अवश्य।

मनु—जैसे माता-पिता के अंग से पुत्र की उत्पत्ति होती है, जैसे पुत्र विचार में, चेष्टा में, कार्य-कलाप में माता-पिता के संस्कारों का अनुकरण करता है वैसे ही राजा भी प्रजा के विचारों का, क्रिया-कलापों का, चेष्टाओं का उनके सुख-दुख का एक शरीर है। क्या आप ऐसा मानते हैं?

सब—निःसन्देह।

मनु—मुझे आप अपने से भिन्न तो नहीं समझेंगे?

सब—नहीं। कभी नहीं।

मनु—मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, प्रजा का कल्याण मेरा ध्येय होगा।

अत्रि—राजा ईश्वर का अग है। हमको ईश्वर के समान उसकी पूजा करनी चाहिए।

भृगु—निःसन्देह।

[एक ऊँचे आसन पर बैठाकर तथा तिलक करके]

सब—**(प्रणाम करके)** महाराज मनु की जय हो! विश्व के व्यवस्थापक मनु की जय हो!

मनु—**(खड़े होकर)** आज से आप लोग अभय हैं। पृथ्वी को शत्रु-रहित करके उसे स्वर्ग के समान सुख-योग्य बनाना मेरा कार्य है प्रजाजन? आज से सब संतान मेरी संतान हैं। इक्ष्वाकु, शर्याति, नाभाग, धृष्ट, नारिष्यंत, प्रांशु, नाभागोदिष्ट, कुरुष, पृषध्र तथा बुध आदि उपस्थित हों।

[सब हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं]

तुमको ज्ञात हुआ कि अब मैं तुम्हारा पिता नहीं, राजा हूँ ?

सब—ज्ञात हुआ महाराज !

मनु—मैं तुम सब को इस विजय के उपलक्ष में एक-एक भूभाग का राजा बनाता हूँ। तुम लोग अपने साथ ब्राह्मणों, ऋषियों को लेकर संपूर्ण प्रदेश में फैल जाओ और राज्यों की व्यवस्था करो। याद रखो प्रजा के दुखी होने का कारण तुम्हारी अयोग्यता है।

सब—सत्य है महाराज !

मनु—ब्राह्मणों का सम्मान करो, क्षत्रियों में बल वृद्धि करो, वैश्यों को सुविधाएँ दो। शूद्रों को अपना अंग मानो।

शश्वती—ब्राह्मण कौन हैं ?

मनु—जो वेद-पाठी हो। धर्मात्मा हो, यज्ञ करे करावे। सब का शुभचिंतन करता हुआ मोक्ष प्राप्ति करे।

शश्वती—क्षत्रिय ?

मनु—जो दुखी, दीनों की रक्षा करे। यज्ञ का प्रचार करे। दान दे। पृथ्वी पर सुख का विस्तार करे।

शश्वती—वैश्य ?

मनु—जो धर्म से देश को, राज्य को और अपने को समृद्ध करे।

शश्वती—शूद्र ?

मनु—जो सेवा करे। सब की सेवा द्वारा देश को उन्नत करे।

नाभाग—मैं ब्राह्मण बनना चाहता हूँ महाराज !

धृष्ट—मुझे क्षत्रियत्व स्वीकार नहीं है। इसमें व्यर्थ की हिंसा है।

नारिष्यंत—मैं तप करूँगा।

करुष—मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। मैं ज्ञान प्राप्त करूँगा।

प्रांशु—मैं केवल वेदों का चिंतन करूँगा।

पृषध्र—मैं संसार से विरक्त होना चाहता हूं। इस युद्ध ने मेरे विचार बदल दिये हैं।

मनु—तो क्या तुम सब लोग राज्य नहीं चाहते। सुख नहीं चाहते ?

सब—नहीं।

इक्ष्वाकु—(**आगे बढ़कर**) मैं क्षत्रिय बनना चाहता हूँ ? मैं राज्य करूँगा।

नाभागोदिष्ट—मैं क्षत्रिय हूं। मुझे आज्ञा दीजिये।

शर्याति—मैं भी क्षत्रिय हूं महाराज ?

मनु—प्रजाजन ! आप लोगों ने देखा, मेरे नौ पुत्रों में कुछ ब्राह्मण हो गये हैं। वे आत्म-चिंतन द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और कुछ क्षत्रिय बनकर राज्य-धर्म का पालन। मैं अपने ब्राह्मण पुत्रों को आज्ञा देता हूं कि वे यथेष्ट मार्ग का अवलंबन करें। और क्षत्रिय इस भूमि पर राज्य शासन करें (**ब्राह्मणों से**) आप लोग इनकी सहायता कीजिये। ईश्वर सबका कल्याण करें।

[**इडा और बुध का आगे आना**]

इडा—मैंने आर्य बुध को अपना पति स्वीकार कर लिया है। हम दोनों ने गन्धर्व विवाह कर लिया है ! हमको आशीर्वाद दीजिये।

मनु—(**हँसकर**) पुत्रि, तुम दोनों का कल्याण हो।

[**सूनृता और शर्याति का प्रवेश**]

सूनृता—मैंने भी सुद्युम्न के साथ गन्धर्व विवाह कर लिया है महाराज !

मनु—सुद्युम्न कौन है ?

शर्याति—(**आगे बढ़कर**) मैं हूं सुद्युम्न।

सूनृता—(**देखकर**) तुम सुद्युम्न हो अथवा शर्याति ?

इडा—(**आगे बढ़कर**) यह भी एक कथा है। वस्तुतः सुद्युम्न नाम मैंने अपना पुरुष-वेश धारण करते हुए रखा था। सूनृता मेरे वेश पर आसक्त थी। इसलिए यह विवाह सुद्युम्न रूप से शर्याति के साथ हुआ है। सूनृता ने स्वयं स्वीकार किया है ?

मनु—क्या तुम्हें यह विवाह स्वीकार है ?

बुध—इडा का पुरुष रूप शर्याति ही है सुद्युम्न नहीं। मैं (**सूनृता से**)

विश्वास करता हूं कि इसे कोई आपत्ति न होगी।

सूनृता—आश्चर्य है ?

मनु—तो तुमको स्वीकार है अथवा नहीं ?

सूनृता—(**शर्याति की ओर देखकर मुस्कराती हुई**) हाँ—

इक्ष्वाकु—शश्वती को मुझे अपनी पत्नी-रूप में स्वीकार करने की आज्ञा दीजिये।

मनु—(**हँसकर**) मुझे प्रसन्नता है, मेरे राजा होते ही विवाह होने लगे। मैं शश्वती को इक्ष्वाकु की पत्नी देखकर प्रसन्न हूं।

[**हर्ष घोष**]

एक ऋषि—मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरी पत्नी अपाला मुझे स्वीकार करे।

अपाला—मैं अब विवाह-बंधन में नहीं रहना चाहती। मेरा जी संसार से ऊब गया है।

मनु—अपाला को तुम पत्नी-रूप में रखने के लिए बाधित नहीं कर सकते ऋषिवर ?

वशिष्ठ—गंधर्व विवाह की प्रथा बन्द होनी चाहिए महाराज !

मनु—हाँ, आप ठीक कहते हैं। साधारण अवस्था में वेद-मन्त्रों द्वारा ही प्रतिज्ञा करके सबको विवाह-बंधन में बँधना चाहिए। परन्तु सर्वत्र यह बंधन नहीं किया जा सकता। विवाह दो प्राणों का बंधन है जिसका पुरोहित स्नेह है।

मनु—मैं आज एक बात और कहना चाहता हूँ। (**सब उत्सुकता से उधर देखते हैं**) आज से इस देश का नाम 'आर्यावर्त' है।

सब—आर्यावर्त की जय ! महाराज मनु की जय !

वासुकि—(**आगे बढ़कर**) महाराज ! हम सब आर्य-धर्म स्वीकार करते हैं।

मनु—मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ वासुकि। आज से तुम हमारे अंग हुए। तुम्हारे साथ किसी प्रकार का भेद-भाव न रहेगा। चिन्न कहां है ?

वासुकि—वह अपने साथियों के साथ दक्षिण की ओर चला गया। उसका विश्वास है कि हम लोग आर्यों के साथ मिलकर नहीं रह सकते।

मनु—उसको भ्रम है। आर्य-धर्म विश्व का धर्म है। उसी में संसार का कल्याण है वासुकि ! आर्य-संस्कृति मानव की वास्तविक संस्कृति है। उसका प्रकाश जीवन का प्रकाश है। उसकी ज्योति आत्मा की, ईश्वर की, ज्योति है। आओ हम सब लोग प्रार्थना करें—

[सब खड़े होकर]

अमृत मधुर सा विश्व-अभय हो !
धरती, अंबर तारक में जो महा-प्राण का निहित नाद है
वही सत्य जीवन का साथी तीन काल में भी अबाध है
पीछे स्वार्थ, सत्य सम्मुख हो, जीवन में कर्तव्य, विनय हो
अमृत मधुरमय विश्व अभय हो !
प्राण प्राण में, हृदय हृदय में गूँजें आर्य-जाति का गायन
रोम रोम में व्याप्त विश्व के दुखों का हो सतत पलायन
अंतर अंतर में स्वर गूँजें यह जग सुखमय जीवनमय हो
अमृत मधुरमय विश्व-अभय हो !

मनु और मानव

उपसंहार

[नेपथ्य से]

इसके पश्चात् मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने वशिष्ठ को अपना पुरोहित बनाकर अयोध्या के राजवंश की नींव डाली। उनके विकुक्षि, निमि, दण्ड तीन पुत्र हुए। इससे सूर्यवंश निकला।

दूसरे पुत्र नाभागोदिष्ट ने वैशाली राज्यवंश स्थापित किया।

तीसरे पुत्र शर्याति ने आनर्त (**गुजरात**) में राजवंश की स्थापना की।

चौथे पुत्र नाभाग ने रथीतारा में अपना राज्य स्थापित किया।

इन चारों पुत्रों से सूर्यवंश और बुध के संयोग से इडा में ऐल-(**चन्द्र**) वंश की नींव पड़ी। इडा के पुरुरवस पुत्र हुआ। शेष नारिष्यन्त, प्रांशु, नाभागोदिष्ट, कुरुष, पृषधृ वेद-पाठी होने के कारण ब्राह्मण बन गये।

यही प्रारम्भिक आर्य-संस्कृति की कहानी है।

४

कुमार-सम्भव

[मध्यकालीन संस्कृति का एक चित्र]

पात्र-परिचय

सरस्वती	
शिव	
पार्वती	
गणेश	
महाराज चन्द्रगुप्त	सम्राट्
कालिदास	कवि
धन्वंतरि	वैद्य
राजामात्य	महामंत्री
गणदास	नाट्य-शिक्षक
हरदत्त	,,

ध्रुवदेवी, कुबेर नागा, प्रभावती, विलासवती आदि

स्थान— हिमालय-अवंतिका ।

: १ :

[दो प्रासादों के बीच में एक उद्यान । उद्यान में कदली फल, नारंगी, ताल, तमाल, हिंताल, चंपक, अशोक, आम्र, जामुन के वृक्ष हैं । अधोपुष्पी, नागक, तुंबरी की लताएँ, चंपा, मालती, गेंदा, यूथिका, रजनीगंधा के पौधे हैं । बीच में स्फटिक-निर्मित लघु सर है, जिसमें नील, रक्त, श्वेत, पीत कमल खिले हुए हैं । सरोवर के चारों ओर बैठने की स्फटिक शिलाएँ, उत्तर की तरफ लतामण्डप, पूर्व ओर

पश्चिम में वाटिका-विहार बने हैं। सरोवर के पास सारस, हंस, बतकों के जोड़े घूम रहे हैं। शंख और सीपी की बनी हुई प्रतोली में से राज-परिचारिकाएँ भिन्न प्रकार के कौशेय वस्त्र, अलंकार धारण किये आ-जा रही हैं। परिचारिकाओं की वेणी नितम्ब तक लटकती। कंचुकी से स्तन बँधे हुए। नीचे कौशेय पट्ट। मस्तक में कस्तूरी का तिलक, भुजाओं में अंगद, वलय, मणिबन्ध, गले में ग्रैवेयक। पैरों में चपली की तरह पादत्राण। अँगुलियों में रत्नजटित मुद्राएँ। एक प्रासाद से दूसरे प्रासाद तक जाने में थोड़ा ही मार्ग पार करना पड़ता है। एक प्रासाद महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है दूसरा महारानी ध्रुवदेवी का। दो परिचारिकाएँ हाथों में फूल, मिष्टान्न तथा शाटकों से युक्त ढके हुए थाल लिये आती हैं। ये प्रासाद के साधारण द्वार हैं, महाद्वार नहीं। दोनों द्वारों के पास दो प्रतिहारी खड़े हैं। दूर से वाद्यों की ध्वनि आ रही है, जिसमें कई स्वर समवेत हैं। पहली परिचारिका, कौशेय-शाटिका से पैर उलझ गये हैं, और गिरना ही चाहती है। समय—प्रातःकाल दस बजे।]

दूसरी परिचारिका—अरे वासन्ती, तनिक देखकर तो चलो। क्या सौन्दर्य इतना दुर्वह हो गया है? यौवन ही जो ठहरा। (हँसती है)

वासन्ती—सखि! क्या बताऊँ, तुम नहीं जानतीं यह कौशेय-पट्ट मेरे लिए भार हो गया है। यौवन तो भला क्या भार होगा?

मधुरिका—यह हाथ में क्या सामग्री है?

वासन्ती—आज कुमार का चालीसवाँ दिवस है, महारानी का शृंगार हो रहा है, इसीलिए ये जालपट्टक लिये जा रही हूँ।

मधुरिका—ओह, समझी। महाराज्ञी की परिचारिका का गौरव भी थोड़ा नहीं है। क्या इसीलिए आज नवपरिधान मिला है?

वासन्ती—सब परिचारिकाओं को महाराज की ओर से एक-एक रत्नहार दिये जाने की भी घोषणा हुई है न?

मधुरिका—सुनती तो हूँ। आह कितना सुन्दर दिन है। आज तुम भी

तो बहुत सुन्दर लग रही हो ?

पहला प्रतिहारी—छवि फूटी पड़ रही है, साक्षात् महाश्वेता हो जैसे।

दूसरा प्रतिहारी—काश्मीर-किन्नरी जो हुई। एक ये हैं कोंकण की श्रीमती लवंगलता।

मधुरिका—**(तीक्ष्ण दृष्टि से देखती हुई)** अपना रूप तो देखो, जैसे बाँस को वस्त्र पहना दिये गये हों।

पहला प्रतिहारी—यह बाँस अब शीघ्र ही बुहारी की सींक हो जाने वाला है।

दूसरा प्रतिहारी—प्रतीक्षा की भी कोई सीमा है वासन्ती ! स्वयं महाराज भी जब अनुरोध करके हार गए तब मेरी क्या सामर्थ्य है कि मधुरिका को मना सकूँ। हां, यदि मुझे एक क्षण को भी कविवर कालिदास का रूप मिल जाता, फिर देखता कौन भुवनमोहिनी मुझ से दूर भागती है।

पहला प्रतिहारी—बबूल का पेड़ कभी भी द्राक्षा-वल्लरी नहीं हो सकता।

दूसरा प्रतिहारी—आज दस वर्ष से तप कर रहा हूँ।

पहला प्रतिहारी—तप का फल मीठा होता है मन्थरक ! धैर्य धारण करो।

वासन्ती—तुमने सुना सखी ! आज कविवर महाराज और महाराज्ञी को वह ग्रन्थरत्न भेंट करने वाले हैं जो उन्होंने कुमार के जन्मोत्सव पर लिखा है। आज सायंकाल को वह कृत्य सम्पन्न होगा।

मधुरिका—हां, अभी-अभी सुना है, परम भट्टारक महाराज राजामात्य से कह रहे थे कि कविवर स्वयं उस ग्रन्थ का कुछ अंश हमको सुनायेंगे। आज ही ग्रन्थ समाप्त होगा न, उसी के निमित्त आज उत्सव हो रहा है। ओह, कितने महान् कवि हैं कालिदास !

वासन्ती—साक्षात् सरस्वती उनके मुख से बोलती है। मेरे देश

काश्मीर में **एक-से-एक** महा_पण्डित हैं, कवि हैं; किन्तु ऐसा रस तो किसी की कविता में **नहीं** पाया। उस दिन वे महाराज को 'कुमार-सम्भव' के कुछ अंश सुना रहे थे।

पहला प्रतिहारी—वह ब्रह्मचारी वाला अंश क्या? वाह, कितना सुन्दर है।

वासन्ती—हाँ, वही। सुनकर मेरी आंखों से तो झर-झर अश्रु-पात होने लगा। पार्वती का कितना सुन्दर वर्णन है मधुरिका, और पाठ माधुर्य, मानो सरस्वती वीणा पर गा रही हो। इतना रस, पदाभिव्यक्ति, सरसता। मैंने देखा स्वयं महाराज उसे सुनकर कभी-कभी गद्‌गद् हो उठते थे।

मधुरिका—कांचन को रत्न मिल गया है। हमारे महाराज का परम सौभाग्य है कि ऐसे महान् कवि उनके राज्य में हैं।

दूसरा प्रतिहारी—तो हमारे महाराज क्या कम हैं? संसार में ऐसा महान् सम्राट् हुआ ही कौन है?

वासन्ती—सम्राट् तो ऐसे हो गये होंगे, किन्तु कवि तो ऐसा हुआ ही नहीं।

[महाराज और अमात्य का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—हां वासन्ती, तुम ठीक कहती हो। सम्राट् तो मेरे-जैसे कई हो गये, किन्तु कालिदास-जैसा कोई कवि नहीं हुआ। (**महाराज को आया जान सब चुपके-से इधर-उधर चली जाती हैं**) क्यों राजामात्य?

राजामात्य—क्या निवेदन करूँ महाराज, दो मोदक; दोनों ही अमृत-मधुर।

चन्द्रगुप्त—नहीं राजामात्य, वासन्ती यथार्थ कह रही है। यह मेरा सौभाग्य है। अच्छा देखो, आज हमारी सभा में कुछ असामान्य व्यक्ति ही आ सकेंगे, इसका ध्यान रखना। कविवर आज वह ग्रन्थ सम्पूर्ण करके लाने वाले हैं। महाराज्ञी भी होंगी।

राजामात्य—यथार्थ है प्रभो! इसके अतिरिक्त एक निवेदन यह है कि तक्षशिला, स्वात, पञ्चनद, मगध, उदयगिरि में कुमार-जन्म का उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया है।

चन्द्रगुप्त—ठीक है, राजा प्रजा की सम्पत्ति है। महामात्य, कच्छ और सिन्ध के विद्रोह की क्या आवश्यकता है?

राजामात्य—महाराज विष्णुदास के पुत्र सनकानिक वंशी को सिंध में शत्रु का दमन करने भेजा है। उनका सन्देश है कि प्रजा ने परम भट्टारक की प्रजा होना स्वीकार कर लिया है। स्वयं महाराज सनकानिक को प्रजा ने सहायता दी है। सांची के आम्रकार्दव नामक व्यक्ति ने कुमार-जन्मोत्सव के उपलक्ष में अनेक संघाराम बनवाए हैं।

चन्द्रगुप्त—बौद्ध और वैष्णव दो थोड़े ही हैं। मेरे राज्य में सब धर्म एक समान हैं। महाकवि के ग्रन्थ के उपलक्ष में उज्जयिनी की चमू, चमूप, बलाधिकृत, महाबलाधिकृत, बलाध्यक्ष, महाबलाध्यक्ष, समस्त-सेनाग्रेसर, रणभाण्डागाराधिकरण तथा महासेनापति को एक मास का वेतन अधिक दिया जाय। कृषकों का एक मास का कर क्षमा किया जाय।

राजामात्य—जो आज्ञा, प्रभो!

चन्द्रगुप्त—संपूर्ण पारिषद्यों को कौशेय-पट्ट तथा एक-एक रत्नहार भी! महामात्य! (**कुछ उदास हो जाता है**)

राजामात्य—महाराज कुछ चिन्तित हैं क्या?

चन्द्रगुप्त—हां मंत्री, अभी प्रातःकाल एक स्वप्न देखा। तभी से व्यग्र हूं।

राजामात्य—वराहमिहिर क्या कहते हैं?

चन्द्रगुप्त—वे कहते हैं, स्वप्न सत्य होगा।

राजामात्य—था क्या वह? महाराज का तो प्रताप ऐसा है कि दुःस्वप्न रह ही नहीं सकते। क्या था वह?

चन्द्रगुप्त—देखता हूँ, हमने उत्सव की आयोजना की है। इस समय

एक मुनि आए हैं।

राजामात्य—मुनि का दर्शन सुखकर है।

चन्द्रगुप्त—नारद हैं मानो। आते ही बोले—'कल्याण हो राजन्। और देखो, उस समय उत्सव का भी सम्पूर्ण आयोजन हो।

राजामात्य—यह तो उन्होंने उचित ही कहा। उत्सव का आयोजन अवश्य होगा महाराज!

चन्द्रगुप्त—हां, मैंने कहा—'महामुने, प्रणाम करता हूँ।'

—मैंने पूछा—'कहाँ से पधारे?' वे बोले—'आज कैसा उत्सव है महाराज! मैं ऐसे ही घूमता चला आया। तुम्हारे राज्य में सब प्रजा प्रसन्न है। तुम धन्य हो राजन्!'

मैंने कहा—'मुनिवर आपकी कृपा है। हां, आज कुमार की उत्पत्ति का चालीसवां दिन है। आज महाकवि कालिदास, महाराज्ञी ध्रुवदेवी को 'कुमार-सम्भव' भेंट करने वाले हैं, उसी का उत्सव है महामुने! आपने वह महाकाव्य सुना? बड़ा सुन्दर काव्य है मुनिश्रेष्ठ! जीवन में जो विजय मैंने प्राप्त की है, जो श्रेष्ठ कार्य किये हैं, वह कालिदास के एक श्लोक की बराबरी नहीं कर सकते। वे साक्षात् सरस्वती के अवतार हैं। अभी पन्द्रह दिन हुए वे कुछ अंश हमको सुना गये थे, आज वह समाप्त करने वाले हैं।' इस पर मुनि बोले—

'वह काव्य तो स्वामि कार्तिकेय के जन्म से सम्बन्ध रखता है न? मैंने उसके कुछ अंश सरस्वती से स्वयं सुने हैं। उस दिन वे भगवान् शंकर और पार्वती को सुना रही थीं।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—'हां, ऐसा, फिर उन्होंने क्या कहा?' मुनि बोले—

'क्या कहा होगा राजन्! तुम क्या समझते हो?' इस पर मैंने कहा—'भगवान् शंकर तो अवश्य प्रसन्न हुए होंगे। यह रचना ही ऐसी है। और कालिदास स्वयं शंकर के उपासक हैं।' मुनि एक दम उदास-से होकर कहने लगे—

'हुँः, रचना ऐसी ही है, हां अच्छी है।' मैंने इसके बाद आग्रह

किया--'कृपा करके बताइये आपकी क्या सम्मति है?' इस पर मुनि मेरी बात का उत्तर न देकर बोले--

'राजन्! मैं सरस्वती को खोज रहा हूँ। इधर वे कई दिनों से मिली नहीं हैं। ब्रह्मा, हमारे पिता उनसे मिलने के लिए चिन्तित हैं। स्वर्ग में वह कहीं नहीं मिल रही हैं। न जाने कहाँ चली गईं, यहां भी नहीं हैं। कालिदास के आश्रम में भी नहीं हैं। और कालिदास पिछले एक सप्ताह से ध्यान-मग्न हैं।' इतना कहकर वे अन्तर्ध्यान हो गये। उसके बाद निद्रा भंग हो गई। संभ्रम संज्ञा प्राप्त करके मैंने सोचा—यह मैंने क्या देखा? यह कौन थे—नारद? कालिदास एक सप्ताह से ध्यान-मग्न हैं। प्रतिहारी से ज्ञात हुआ सचमुच वे ध्यान-मग्न हैं।

(घूमते हुए लौटकर) मैं कालिदास को देखना चाहता हूँ।

राजामात्य--मैं संदेश भेजता हूँ, पृथ्वीनाथ!

चन्द्रगुप्त—नहीं, मैं स्वयं जाऊँगा और देखूँगा इस स्वप्न का क्या प्रभाव कवि पर पड़ा है। वस्तुतः राजामात्य, लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन देना भी मेरे जीवन का एक लक्ष्य है। मैंने कविवर से कहा है कि वे कुछ नाटक भी लिखें।...इस समय तक जो नाटक लिखे गये हैं वे मुझे संतुष्ट न कर सके।

राजामात्य—भास के नाटकों में चरित्र-विकास, संवाद-सौन्दर्य होते हुए भी रस-परिपाक की त्रुटि है, ऐसा मैंने अनुभव किया है।

चन्द्रगुप्त--मैं चाहता हूँ कि कालिदास ही नाटक लिखें। निश्चय ही उनके नाटक महाकवि भास के नाटकों से श्रेष्ठ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

राजामात्य--उस दिन खेले जाने वाले उनके नाटक के निदर्शन को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। एक तरह से 'स्वप्न वासवदत्ता' में जीवन आ गया।

चन्द्रगुप्त--माणिक्य सब जगह चमकता है राजामात्य! उनकी कविता में जितनी स्वाभाविकता है, जितना रस-परिपाक है, जितना प्रवाह

है, वह मुझे बहुत कम अन्यत्र मिला है राजामात्य !

राजामात्य—उनकी कविता को सुनकर ऐसा ज्ञात होता है, मानो कोई अदृश्य शक्ति बोल रही है। वे स्वयं पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो उठते हैं।

चन्द्रगुप्त—वे अपूर्व हैं !

[**चले जाते हैं**]

: २ :

[**कैलास-शिखर के ऊपर देवदारु-निर्मित एक कुटीर। उसके बाहर तृणासन पर पार्वती बैठी हैं। सामने गणेश उनके घुटनों से लगे ऊँघ रहे हैं। कभी-कभी सूँड उठाकर इधर-उधर हिला देते हैं, कभी मुँह चलाते हैं। कुछ दूर पर सरस्वती बैठी हैं; सामने का हिम-खण्ड रिक्त है। वह शिव का सिंहासन है। ज्ञात होता है दोनों में कुछ गरमागरम विवाद हो चुका है। बात बढ़ जाने पर गणेश की निद्रा भंग हो जाती है, वे सिर उठाकर इधर-उधर देखने लगते हैं और कोई विघ्न न जानकर फिर ऊँघने लगते हैं। कभी-कभी वीरभद्र त्रिशूल लेकर इधर-उधर निकल आते हैं और पार्वती के सामने अपने अस्तित्व का भान कराकर चले जाते हैं। दूर पर बैठा सिंह कभी-कभी एक दहाड़ लगाता हुआ अपना मुँह चलाकर शान्त हो जाता है। पार्वती रु-मृग के चर्म का परिधान ओढ़े हैं जो कोरों से बँधा हुआ है। काले मृग के चर्म से उनकी मुख-शोभा द्विगुणित हो रही है। सिर के बाल बिखरे हुए। रत्नों की माला गले में। इससे सूर्य के प्रकाश में वह माला कभी-कभी इतनी चमक जाती है कि पार्वती का मुँह महा-प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीख पड़ता। सरस्वती रक्त कौशेय की शाटिका पहने आभूषणों से सुसज्जित। पार्वती का छौना सरस्वती को कमल का पुष्प-गुच्छ जानकर उन्हें चबाने तथा चाटने दौड़ पड़ता है। पार्वती उसे हटा देती हैं। दूर भूत-प्रेतों की बातचीत की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई दे रही है।**]

पार्वती—तुम्हीं सोचो, जिसने मेरे सम्बन्ध में ऐसा वर्णन किया हो उसे मैं कैसे क्षमा कर सकती हूँ, चाहे वह स्वयं इन्द्र ही क्यों न हों ?

सरस्वती—किन्तु तुम्हें जगन्माता भी तो उसने माना है। मुझे दुःख है तुम व्यर्थ ही नारद की बातों में आ गईं, उसका तो कार्य ही परस्पर झगड़ा कराना है माँ!

पार्वती—इसमें नारद का कोई दोष नहीं है। यह तो स्पष्ट सत्य है। क्या तुम उचित समझती हो कि किसी के सम्बन्ध में इतना शृंगार वर्णित किया जाय और वह अनुचित न माने?

सरस्वती—सुन्दर को सुन्दर कहने में दोष क्या है, यही मैं नहीं जान सकी। स्त्री के यौवन की सार्थकता उसके रूप में, उसके सौंदर्य में, उसके विलास में है। (**पुरुष के यौवन में वीरत्व है, साहस है, कठिन-से-कठिन कार्य करने की क्षमता है; किन्तु स्त्री की चरम सार्थकता मातृत्व में है और मातृत्व से पहले यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति का वही रूप है जिसके लिए प्रत्येक ललना जन्म-जन्म से आकांक्षा करती है। वरदान माँगती है।**) इसके अतिरिक्त तुम्हारे विवाह के द्वारा स्कन्द की उत्पत्ति के लिए विश्व को जड़-चेतन, अजर-अमर सभी शक्तियों ने कितनी घोर प्रार्थना की है, यह भी तो किसी से छिपा नहीं है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि कालिदास की यह रचना आप्रलय अमर रहेगी। केवल एक बार तुम्हारे प्रसन्न होने की आवश्यकता है माँ!

पार्वती—मैं कालिदास को जानती हूँ। कई बार हम दोनों ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया है, और भगवान् तो उन पर इतने प्रसन्न हैं कि व्यास, वाल्मीकि के बाद उन्हें ही स्मरण करते हैं।

सरस्वती—यह भगवान् का महान् अनुग्रह है। उस दिन 'कुमार-सम्भव' का प्रथम और दूसरा सर्ग जब मैंने सुनाया तो वे गद्‌गद् हो उठे और तुम भी कम प्रसन्न नहीं थीं।

पार्वती—तुम्हें ज्ञात है विधाता, तुम्हारे पिता कालिदास को उत्पन्न करने के कितने विरुद्ध थे?

सरस्वती—वे तो हुए वृद्ध। उनसे कोई क्या कहे, उस कवि का होना विश्व-कल्याण के लिए परम आवश्यक है।

पार्वती—नहीं, कहते थे व्यास और वाल्मीकि के बाद उस कोटि का कोई भी कवि पैदा नहीं किया जा सकता।

सरस्वती—किन्तु व्यास और वाल्मीकि से हम उसकी समता ही कहाँ कर रहे हैं ? भगवान् वेदव्यास को तो मैं जानती हूँ वे तो साक्षात् विष्णु के अवतार हैं।

गणेश—(**एकदम चेतन होकर**) माँ, व्यास जी आ गये क्या ! उनसे कह दो मैं सो रहा हूँ। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है। प्राण ही चूस लिये उन महानुभाव ने तो।

पार्वती—नहीं पुत्र, उनकी बात चल पड़ी केवल।

गणेश—नहीं, नहीं, मुझ से अब वह काम न होगा। उनकी वाणी तो रुकना जानती ही नहीं। पवन के समान अव्याहत। काल के समान अणु-परमाणु तथा महत्ता से युक्त। आज भी जब स्मरण हो जाता है तब मुझ विघ्नहर को भी एक विघ्न उपस्थित हो जाता है। तुम जानती हो जब मैं महाभारत लिखने बैठा तब मैंने क्या कहा था ?

सरस्वती—देखो भैया, अब वह समय नहीं आवेगा। तुम भी तो जानते थे कि मेरे जैसा कोई लेखक नहीं। अभिमान नहीं करना चाहिए।

गणेश—अभिमान की बात नहीं। जब महाभारत लिखने का प्रश्न आया तो मैंने सोचा कि व्यास जी को चमत्कार दिखाने का यह अच्छा अवसर है। इसलिए कह बैठा—'देखिये, व्यास जी यदि आप रुक गये तो मैं आगे नहीं लिखूँगा।'

पार्वती—फिर भी न जाने तूने इतना कैसे लिख लिया ? हाथ दुख गये होंगे पुत्र ! (**उनके हाथ सहलाती हैं**) हां, फिर क्या हुआ ?

सरस्वती—आगे का रहस्य मैं बतलाती हूँ। जब गणेश का आग्रह उन्होंने सुना तो चुप हो रहे और मेरी प्रार्थना करने लगे। एक बार मन में आया कि कोई और लेखक खोजें। व्यास को उस समय बड़ी ग्लानि हुई। जिनकी वाणी वेदों का विस्तार करते न रुकी, पुराणों का उपबृंहण करते न परास्त हुई, वे इन गणेश के सामने धैर्य खो बैठे। मैं उस समय

पिता के पास बैठी थी। वे एक वाणी से चारों मुख से बोल उठे, 'अब! महाभारत अवश्य लिखा जाना चाहिए।' मैंने उत्तर दिया—मैं जाती हूं। आकर जो मैंने देखा तो व्यास चुप बैठे थे। मैंने कहा—मैं आपकी सहायता करूँगी। कूट बोलिये और गणेश से कहिये कि समझकर लिखें। **(हँसती है)**

गणेश—कूट, वह भी एक भयङ्कर काम था। मुझे एकदम सम्पूर्ण कोशों को छान जाना पड़ता था। कभी सूँड से माथा खुजलाता, कभी उसे दबाता तब कहीं जाकर श्लोकों के अर्थ समझ में आते। किन्तु माँ, व्यास सचमुच व्यास हैं, यह मानना पड़ेगा। महाभारत में सहस्रों शब्द तो ऐसे हैं जिनको उन्होंने प्रकृति-प्रत्यय लगाकर तत्क्षण बनाया है। अच्छा, तो यह आपकी करामात है, अब समझा? यह बात उस समय ज्ञात होती तो मैं भी व्यास को वह चकमा देता कि तुम्हें भी जाकर ब्रह्मा से ही पछना पड़ता।

सरस्वती—यह न कहना भैया, व्यास से छिपा ही क्या है उस काले-कलूटे से।

गणेश—फिर भी मैं तुम से डरता हूँ जीजी! अब न जाने क्या पचड़ा ले बैठीं। मालूम है रात भर पिता और माँ में विवाद होता रहा है। भला नारद जी क्यों क्रुद्ध हैं? माँ तो केवल नारद जी के कहने से क्रुद्ध हैं।

पार्वती—तू क्या जाने कि मैं नारद के कहने से ही क्रुद्ध हूँ। प्रत्येक को अपनी मान-मर्यादा प्रिय होती है पुत्र!

सरस्वती—मुझे तो यह खेद है कि ऐसा सुन्दर काव्य अधूरा रह जायगा माँ?

पार्वती—और मुझे यह प्रसन्नता है कि मैंने कवि को उसकी धूर्तता का दण्ड दे दिया।

गणेश—यदि वे मेरा नाम लेते तो मैं कभी ऐसे सुन्दर काव्य को अपूर्ण न रहने देता।

सरस्वती—तो फिर तुम्हारा नाम दिलवा दूँ पहले? मैं क्या करूँ!

पिता जी कहते हैं कि मैं वृद्ध हो गया संसार का निर्माण करते-करते, कोई मेरा वर्णन ही नहीं करता। तुम कहते हो मेरा नाम नहीं है। याद रखो गणेश, भक्ति की पुस्तकों में, साधारण कथाओं में, पूजा-पाठ के ही तुम काम के हो, महान् शास्त्रों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध?

गणेश—(**हँसकर**) अच्छा, भला नारद क्यों क्रुद्ध हैं?

पार्वती—नारद मेरा भक्त है। मेरा-सौन्दर्य-वर्णन, रति-विलास उससे नहीं देखा गया, इसलिए।

गणेश—मिथ्या है। (**स्कन्द का प्रवेश। सरस्वती और माँ को प्रणाम करके**)

स्कन्द—देखो माँ, नारद की यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

पार्वती—क्या?

स्कन्द—सुना है तुमने 'कुमार-सम्भव' को अपूर्व रहने का शाप दिया है। मेरे ऊपर एक ही तो काव्य लिखा गया और वह भी अधूरा। मझ से नारद कह रहे थे कि 'चन्द्रगुप्त' के पुत्र का नाम 'कुमार' रक्खा गया है। एक तरह से तुम्हारी समानता की गई है—यह बुरी बात है। 'क्या चन्द्रगुप्त का पुत्र महादेव के पुत्र स्कन्द के समान हो जायगा?' इस तरह कहकर मुझे उभार रहे थे। किन्तु 'स्कन्द' या 'कुमार' मेरा ही तो नाम नहीं है। जब मैंने क्रोध में जाकर कालिदास के पास रखी वह पुस्तक पढ़ी तो मेरा हृदय गद्गद् हो गया। सुना है, तुम्हें वह शृंगार के नाम से बहका गये हैं।

पार्वती—तुम सब अपना-अपना स्वार्थ देखते हो। स्कन्द इसलिए चाहता है कि उसके ऊपर एक काव्य-निर्माण हुआ। गणेश चाहता है कि यदि उसका नाम लिया जाता तो मेरे शाप के बाद भी ग्रन्थ पूर्ण हो जाता। सरस्वती इसलिए चाहती है कि यह हुई रसिक; कला, साहित्य की स्रोत, इसे साहित्य की अपूर्णता रुचिकर नहीं है। भगवान् शंकर अपने भक्त का कार्य पूर्ण करने पर तुले हैं। अब भी वे कदाचित् वहीं हों।

[**शंकर का प्रवेश**]

शंकर—हाँ देवी, आज एक सप्ताह से कालिदास चिन्तित है। आज ही वह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त को भेंट किया जायगा। ध्रुवदेवी ने अपने पुत्र का नामकरण कुमार ही किया है। मैंने कई बार यत्न किया कि वह आगे लिखे, किन्तु लेखनी रुक जाती है, छंद ठीक नहीं बन पाते। वह रस भी नहीं है। मैंने स्वयं एक-दो श्लोक लिखने का यत्न किया तो रेखाएँ खिंचकर रह गईं। तुम उसे क्षमा करो देवि ? **(सरस्वती की ओर देख कर)** अरे सरस्वती, तुम यहाँ क्या कर रही हो ?

सरस्वती—माँ से अभिशाप लौटाने की प्रार्थना करने आई थी किन्तु ये मानती ही नहीं। (**गणेश और स्कन्द सिटपिटाते-से भाग जाते हैं।**)

पार्वती—आप गंगा को लिये भ्रमण करते रहें, भक्तों को वरदान देते रहें। आपको क्या, किसी का मान हो अथवा अपमान।

सरस्वती—मैं जाती हूँ। आज कवि के जीवन-मरण का प्रश्न है, दया कीजिये भगवान्।

शंकर—उज्जयिनी से आते हुए ध्यान आया विष्णु से मिलता चलूँ। कदाचित् कोई समस्या का समाधान मिल जाय। उन्होंने भी वह काव्य पढ़ा है। और स्पष्ट तो यह है उसके अंश सुनकर लक्ष्मी को ईर्ष्या होने लगी कि उनका वर्णन कवि ने क्यों नहीं किया। विष्णु तो गद्गद् हो उठे हैं। कह रहे थे वाल्मीकि के बाद ऐसा काव्य बना ही नहीं। विधाता को यह दुःख है कि कालिदास का निर्माण ही क्यों किया गया ? इसी से सम्पूर्ण स्वर्ग में गड़बड़ी मची है। बेटी सरस्वती, विधाता कह रहे थे कि उन्होंने तुम्हारे ही कहने से कालिदास का निर्माण किया है।

सरस्वती—सत्य है भगवन्, मैं चाहती थी कि साहित्य और कला का प्रचार करने के लिए मनुष्यों में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न किया जाय जो लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन दे सके।

पार्वती—मनुष्य सदा से देवताओं का विरोधी रहा है। उसने हमारे प्रति विद्रोह रचकर अपना महत्त्व स्थापन करने का प्रयत्न किया है। वह देवताओं के नाम पर अपने राजाओं की स्तुति करता है। यह क्या अच्छी

बात है, क्यों नहीं ध्र वदेवी का ही उसने वर्णन किया ?

शंकर—संसार आश्रय चाहता है, उसकी शक्तियाँ ससीम हैं। मृत्यु, जीवन, यश, अपयश उसके हाथ में नहीं हैं। इसीलिए वह डरता है और कालिदास तो मेरा परम भक्त है, तुम्हारा भी। तुम अपना शाप लौटा लो देवि !

पार्वती—नाथ, यह मेरा मत है, मेरा विश्वास है कि कालिदास ने उचित नहीं किया।

सरस्वती—माँ, आप आद्याशक्ति हैं, विश्वधात्री हैं, जगन्माता हैं। इस संसार का प्रणयन आप से हुआ है। अतएव मानवोचित इन छोटी बातों में आपको नहीं आना चाहिए। आप तीनों काल, त्रिप्रकृति हैं, फिर राजस से इतना भय क्यों ? **(जाने लगती है।)**

पार्वती—**(मुस्कराकर)** सरस्वती, तू बड़ी चतुर है। अच्छा, मैं सोचकर उत्तर दूँगी।

शंकर—मैं समाधिस्थ होने जा रहा हूँ, देवि !

पार्वती—नाथ, दया कीजिये। ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी जो आप समाधिस्थ होने जा रहे हैं ? एक साधारण व्यक्ति के लिए इतना कष्ट ? कालिदास जैसे अनेकों जीव ससार में हैं। उनके लिए भी तो···

(शंकर चले जाते हैं।)

सरस्वती—**(लौटकर)** आओ, मैं तुम्हें दिखाऊं। **(पार्वती और सरस्वती खड़ी हो जाती हैं। दोनों दूर तक देखती हैं—दृश्य बदलता है। एक राजमार्ग)**—देखो, वह राजमार्ग है। इस समय तुम वर्तमान, भविष्यत् सब देख रही हो। **(दोनों देखती हैं। वह सामने मार्ग में कालिदास की मूर्ति है। छायाचित्र की तरह महाराज चन्द्रगुप्त कालिदास का अभिवादन कर रहे हैं। लोग आते और प्रणाम करते जाते हैं।)**

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—सम्राट् चन्द्रगुप्त ! **(फिर कुमारगुप्त आते हैं। वे भी कालिदास को प्रणाम करते हैं।)**

पार्वती—सम्राट् कुमारगुप्त !

"लिप्तामधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।"

—जिस महाकवि की वाणी मधु के रस से आलुप्त थी उसी कालिदास ने वैदर्भी रीति का मार्ग दिखाया है। (प्रणाम करके चले जाते हैं।)

पार्वती—यह कौन है ?

सरस्वती—महान् कवि दण्डी।

[एक व्यक्ति आते हैं, कालिदास को प्रणाम करते हुए—]

"निर्गतासुन वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु
प्रीतिर्मधुर सांद्रासु मंजरीष्विव जायते।"

—कविवर कालिदास की आम्र-मंजरी के समान मीठी और सरस सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?

पार्वती—यह कौन है ?

सरस्वती—जिनके वर्णन के सामने संसार का वर्णन उच्छिष्ट है, वे महाकवि बाण।

[एक और व्यक्ति आते हैं]

"अस्मिन्निति विचित्र कवि परंपरा वाहिनि संसारे
कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पंचषा वा महाकवयः गण्यन्ते।"

—इस विचित्र कवि-परंपरायुक्त संसार में कालिदास के समान दो-तीन या अधिक-से-अधिक पाँच-छः कवि ही गिने जा सकते हैं।

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—ध्वन्यालोक के रचयिता आनंदवर्धन।

[एक और व्यक्ति आते हैं, प्रणाम करके—]

"पुरा कवीनां गणना प्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।"

—पहिले कवियों की गणना करने पर कालिदास का नाम

कनिष्ठिका उँगली पर लिया जाता था और आज उनके समान किसी के न होने से वह अनामिका के समान (अद्वितीय) हो गये हैं।

[एक और पण्डित प्रणाम करके—]

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्,
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास त्रयी किमु ?"

[संसार कालिदास की एक बात में भी समता नहीं कर सकता, शृंगार और सुललित पद्य-रचना में तो उनका कहना ही क्या ?]

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ।

[एक हैट, बूट, पतलूनधारी व्यक्ति आकर प्रणाम करके—]

"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्यन्मनसो रसायन मतः संतर्पणं मोहनम्,
एकीभूतमभूत पूर्वमथवा स्वर्लोक भूलोकयोः।
ऐश्वर्यं यदि वांच्छसि प्रिय सखे, शाकुन्तलम् सेव्यताम् ।"

(ग्रीष्म और वसन्त के पुष्प और फल तथा मन को प्रसन्न करने वाले मोहक जितने रस हैं, उनको तथा स्वर्गलोक तथा भूलोक के अभूत-पूव ऐश्वर्य को हे मित्र, यदि तुम एकत्र देखना चाहते हो, तो कालिदास के नाटक शकुन्तला को पढ़ो ।

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—जर्मनी के कवि गेटे। वह देखो असंख्यों नर-नारियों, बालकों-वृद्धों के करों में कालिदास की पुस्तकें हैं, वे सब पढ़ते जा रहे हैं।

पार्वती—मैं समझती थी यह साधारण व्यक्ति होगा। यह तो सच-मुच महान् है।

[एक व्यक्ति हाथ जोड़कर खड़ा है—]

"मनोहारिणीं कुमार-संभव कथां गायता यावत्तौ,
स्तूयेते स्म कवीश्वर ? भवता गौरी गिरीशौ भगवन्तौ ।

तस्थुः परितः प्रभया सर्वं शान्ततमाश्च ततोमंदम्,
सायंतन्यो नीरदमाला आचक्रमिरे गिरिशिखरम् ।"

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—महाकवि रवीन्द्रनाथ ।

[दूर से एक व्यक्ति गाता चला आता है—]

"विश्वभारती कल्प-लता के अमर सुमन मकरन्द अमन्द,
युग-युगान्त का तिमिर चीरकर हुए प्रकाशित जिनके छन्द,
नग-अधिराज-शिखर गौरव से जिनके गाते गीत ललाम,
कवि-कुल-गुरु उन वश्यवाक् श्री कालिदास को सतत प्रणाम।
अमर-भारती वीणा-वादिनि, जिनको पा कृतकृत्य हुई,
कालत्रय की प्रकृति भाव ले शब्द-शब्द की भृत्य हुई,
अति तेजस्वी अमर, यशस्वी, अमर विधाता, अति अभिराम,
उस प्रकाश को, उस विकास को, कालिदास को सतत प्रणाम।"

पार्वती—सुन्दर, कालिदास वस्तुतः महान् हैं। मुझे खेद है कि मैंने ऐसे व्यक्ति को शाप दिया। **(पार्वती चिन्ता-मग्न खड़ी रहती है।)**

सरस्वती—(स्वगत) कदाचित् कुछ काम बन जाय। कालिदास, मैं तुम्हारे लिए जो भी कर सकती थी, कर रही हूँ। यद्यपि मुझे तुम्हारे वर्णन मे कोई आपत्ति नहीं है। (**पार्वती से**) क्या सोच रही हो माँ ?

पार्वती—(हँसकर) सोचती हूँ, एक बार शंकर से फिर विवाह होता !

सरस्वती—(हँसकर) एक बार फिर यौवन के दिन लौटते क्यों ?

पार्वती—देवताओं के बूढ़े न होने पर भी इच्छाएँ तो बुढ़ा जाती हैं सरस्वती !

सरस्वती—प्राणी की साधारण इच्छाएँ ही बूढ़ी होती हैं और देवताओं को तो कुछ भी अप्राप्य न होने से उनके इच्छाएँ होती ही नही माँ! कालिदास के सम्बन्ध में फिर तुम्हारा क्या मत है ?

पार्वती—शाप नहीं लौट सकता। हाँ, मैं आशीर्वाद देती हूँ वह

काव्य अधूरा रहकर भी विश्व-साहित्य का उज्ज्वल रत्न होगा। कालिदास तुम महान् हो।

सरस्वती—(सोचती हुई) चलो, यह मेरा काम है तुम्हारा नहीं।

[कालिदास का निवास-प्रासाद। पहले दृश्य में दिखाए गये उद्यान के समान। जहाँ छहों ऋतुएँ निवास करती हैं। उद्यान में अनेक प्रकार के पुष्पों-फलों से लदे वृक्ष। पास ही वाटिका। उत्तर की ओर क्रीड़ा-पर्वत, पूर्व की ओर वापी, तथा अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से युक्त क्रीड़ा-पर्वत के नीचे लताच्छादित वाटिका में महाकवि वर्तमान हैं। लता की यवनिका बनी हुई हैं। जो दूर से दिखाई देती है उससे कुछ दूर हटकर स्वर्ण-स्यंदिका पर विलासवती मौन उदास बैठी है। विलासवती केशर के रंग-सी मधुर, कृश-शरीर वाली रमणी है। नख-शिख मानो विधाता ने विशेष रूप से गढ़कर बनाए हैं। केश-राशि बिखरी हुई। नेत्र ज्योतिहीन फिर भी मनोज्ञ। कभी चिन्ताधिक्य के कारण भ्रमण करने लगती है, कभी बैठ जाती है। परिचारिका मधु-पात्र लिये खड़ी है]

परिचारिका—(कुछ आगे बढ़कर) लीजिये, थोड़ा-सा मधु-पान कर लीजिये। चित्त स्वस्थ हो जायगा देवि! आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

विलासवती—नहीं, मदनिके ले जा। मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। न जाने कविवर को क्या हो गया है? वे पिछले सप्ताह से बहुत ध्यान-मग्न हैं?

परिचारिका—यह तो मैं देख रही हूं। वैद्यराज धन्वन्तरि ने कोई उपचार नहीं बताया?

विलासवती—सब कुछ कर चुकी हूँ, सब उपाय व्यर्थ गये। वे तन्मय हैं, बोलते भी नहीं। मैं जीवित न रह सकूँगी मदनिके, यदि कवि को कुछ हो गया। ओः ऐसी कल्पना करते भी प्राण निकले जा रहे हैं।

(दौड़ा हुआ प्रतिहारी आता है।)

प्रतिहारी—महाराज महाराज प···धार···रहे हैं देवी!

विलासवती—महाराज! **(उठकर)** कहाँ हैं?

परिचारिका—(**मधु-पात्र लता की ओट में रखकर खड़ी हो जाती है, महाराज धन्वन्तरि वैद्य के साथ आते हैं। विलासवती और परिचारिका दोनों नतमस्तक होकर खड़ी हो जाती हैं।**)

चन्द्रगुप्त—कहाँ है कवि ?

[**विलासवती लताच्छादित वाटिका की ओर संकेत करती है**]

चन्द्रगुप्त—मैं कवि का दर्शन करना चाहता हूँ।

विलासवती—देवाधिदेव, आज्ञा नहीं है। कवि व्यस्त हैं।

चन्द्रगुप्त—आज्ञा नहीं है, किसकी आज्ञा नहीं है ?

विलासवती—क्षमा कीजिये देव, कवि किसी से मिलना नहीं चाहते।

चन्द्रगुप्त—किन्तु मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।

[**विलासवती चुप रहती है। चन्द्रगुप्त स्यंदिका पर बैठ जाते हैं**]

चन्द्रगुप्त—तुम जानती हो, आज कविवर महासम्राज्ञी को वह ग्रन्थ भेंट करने वाले हैं ?

विलासवती—जानती हूँ देव !

चन्द्रगुप्त—मैं जानना चाहता हूँ उस काव्य का क्या हुआ ?

विलासवती—वह अपूर्ण है।

चन्द्रगुप्त—(**आश्चर्य से**) अपूर्ण है !

विलासवती—जी, उसी के कारण वे आज एक सप्ताह से अस्वस्थ हैं।

धन्वन्तरि—महाराज ! मैं निवेदन कर चुका हूँ कि कालिदास को कोई शारीरिक कष्ट नहीं है, केवल कोई मानसिक चिन्ता है। उसके लिए मैंने कई प्रयोग किये किन्तु सब व्यर्थ हुए।

चन्द्रगुप्त—(**सोचकर**) अच्छा देखो, कवि किस दशा में है ?

[**विलासवती जाती है और लौटकर**]

विलासवती—(**सप्रसन्न**) महाराज ! वे लिख रहे हैं। मेरे पहुँचने की आहट भी उन्होंने नहीं सुनी।

चन्द्रगुप्त—दीखते तो स्वस्थ थे न ?

विलासवती—मुख तो प्रसन्न दिखाई देता था। ओः वे तो सचमुच इस समय पूर्वावस्था में दिखाई दिये। ज्ञात होता है, काव्य लिखा जा रहा है। महाराज, मैं पिछले एक सप्ताह से एक क्षण के लिए भी उनके पास से नहीं हटी हूँ। जब वे चिन्ता करने या लिखने की चेष्टा करते तो उनके मुख पर स्वेद-बिन्दु झलक उठते, तब मैं स्वयं उन्हें पोंछ देती थी। यथा-समय मधु अपने करों से पिलाती रही हूँ देव !

चन्द्रगुप्त—देवि, तुम धन्य हो जिसने कवि को इतना अधीन किया है।

विलासवती—आः महाराज, वह कितना सुख का समय होगा जब मैं उनके वीणा-विनन्दित स्वर से आगे की कथा सुनूँगी। महाराज ! यह न-जाने मेरे पूर्व-जन्म के कौनसे सौभाग्य का फल है कि मेरे ऊपर कवि-वर ने अपने कृपा-कण बरसाए।

चन्द्रगुप्त—मैं स्वयं सोचकर गर्वोन्मत्त हो उठता हूँ कि कालिदास मेरे राज्य में है। यह मेरा और इस युग का सौभाग्य है।

[कालिदास कुमार-सम्भव का एक श्लोक गुनगुनाते हैं]

"हृदये वससीतिमत्प्रियं यदवो च स्तदवैमिकैतवम्,
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनंग, कथमक्षता रतिः।"

—पति कामदेव के भस्म होने पर विलाप करती हुई रति कहती है—'तुम तो कहा करते थे तू मेरे हृदय में सदा बसती है, परन्तु अब मुझे ज्ञात हुआ कि ये सब बनावटी बातें थीं। केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए कहते थे, नहीं तो आपके नष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षती रहती ?'

चन्द्रगुप्त—(सस्वर पाठ सुनकर) कितना सुन्दर श्लोक है !

विलासवती—(आवृत्ति करके)

"हृदये वससीतिमत्प्रियं यदवो च स्तदवैमिकैतवम्,
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनंग, कथमक्षता रतिः।"

धन्वंतरि—प्रवाह चल पड़ा है। महाराज, कवि का स्वास्थ्य उसकी कविता है। यह भी एक प्रकार का ज्वर है, जब तक उद्‌गार के रूप में वह निकल नहीं जाता तब तक उसे शांत नहीं मिलती।

चन्द्रगुप्त—तुम ठीक कहते हो धन्वन्तरि! कविता निर्झरिणी के समान है, जो बहने के पश्चात् ही शांत होती है। विलासवती, मैं कवि से मिलूँगा।

धन्वंतरि—महाराज! अपराध क्षमा हो। यह अवसर उनके पास जाने का नहीं है। वे कविता-प्रणयन में मग्न हैं।

चन्द्रगुप्त—(**उदास होकर**) अच्छा विलासवती, कवि का विशेष ध्यान रखना। इसके अतिरिक्त आज तुम्हारा नृत्य होगा। मैं तुम्हें सादर निमंत्रित करता हूँ।

विलासवती—किन्तु, किन्तु मैं तो क्षमा चाहती हूँ देव!

चन्द्रगुप्त—मैं सब जानता हूँ। तुम्हें किसी रूप में भी क्रय नहीं किया जा सकता। किन्तु इस ग्रन्थ के उपलक्ष में होने वाले उत्सव-नृत्य में क्या तुम्हें कोई आपत्ति है? यह स्वयं कालिदास का सम्मान है देवि!

धन्वंतरि—महाराज का अनुरोध है देवि!

विलासवती—(**सोचकर**) मैं अवश्य आऊँगी।

चन्द्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता होगी। (**दोनों चले जाते हैं।**)

विलासवती—(**मधु-पान करके एक फूल तोड़कर सूँघती हुई**) मेरे जीवन के प्रिय सहचर, मेरे हृदय के आनन्द, तुम्हारी सरस्वती इसी तरह मधु बरसाती रहे, यही मेरी आकांक्षा है। (**कुमार-सम्भव का एक श्लोक गुनगुनाती है। इतने में एक मृग-छौना आकर विलासवती का वस्त्र पकड़ लेता है। विलासवती देखकर आनन्द में मग्न होकर उसे उठा लेती है।**) आतुर, तुम सचमुच बहुत आतुर हो। (**प्यार करके उसे छोड़ देती है। मृग हटकर पास खड़ा हो जाता है।**)

मदनिका—आज प्रातःकाल से यह मृग-छौना बार-बार लतामण्डप में कवि के पास जाता है और निराश-सा लौट आता है देवि!

विलासवती—ज्ञात होता है, ध्यान-मग्न होने के कारण कवि से इसे प्यार नहीं मिला। मैं स्वयं बहुत विह्वल हो जाती हूँ कभी-कभी मदनिके! जीवन में मैंने एक ही व्यक्ति को हृदय दिया है, एक ही को प्राण-दान किया है, और वे हैं कालिदास। देख तो सही वे क्या कर रहे हैं? **(इतने में कौशेय-पट्ट धारण किये भव्य मूर्ति कालिदास गुनगुनाते आते हैं)** ओ! **(प्रसन्नता दिखाती हुई)** क्या आप लिख चुके?

कालिदास—**(जिनकी आँखों में मद का उतार झलक रहा है फिर भी मोहक)** तुम्हारे बिना मैं कुछ लिख सकता हूँ क्या? एक मधु-पात्र।

विलासवती—**(मधुकादम्ब लेकर)** लीजिये। मैं वहीं पहुँचा देती। मैंने समझा कि आप लिख रहे हैं इसलिए...।

कालिदास—ज्ञात होता है भगवती पार्वती ने मुझे उनके शृंगार-वर्णन के अपराध में शाप दिया है। इसी कारण मैं यत्न करके भी कुछ नहीं लिख पा रहा हूँ। कुमार-सम्भव पूर्ण न होगा इसका मुझे खेद है। **(मधुपान करके)** सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण रति-रस किसी प्रकार भी गर्ह्य हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

विलासवती—हम लोग सभ्य हैं न? सब प्रत्यक्ष, अनुमानगम्य होते हुए भी एक सीमा तक तो हमें जाना होगा। किन्तु पार्वती के रति-वर्णन में मुझे तो कोई भी हेय अंश दिखाई नहीं देता। वह तो इतना मनोहर है कि पढ़कर रोमांच होता है। कवि, तुम्हारी वाणी में कितना रस है?

कालिदास—स्फूर्ति तो तुम्हीं हो विलासवती, एक प्रेरणा, जीवन की प्रेरणा, प्राणों का रस। **(श्लोक गाते हैं। बीच में छोड़कर कालिदास विलासवती की जाँघों पर सिर रखकर लेट जाते हैं। विलासवती उनके बालों में हाथ फेरती है। मदनिका पंखा झलती है)** मनुष्य और प्रकृति दोनों में संघर्ष चल रहा है कि कौन अधिक सुन्दर है। मेघ, बिजली, तारक, पूर्णनिशा, नदी, भूधर, कुसुम एक-से-एक सुन्दर, एक-से-एक अधिक मोहक हैं। मानो संपूर्ण विश्व का रस, आनन्द एक-एक में आकर

एकत्र हो गया है। किन्तु—

विलासवती—किन्तु···

कालिदास—मनुष्य इससे भी सुन्दर है। वही तो उस सौन्दर्य का परिज्ञाता है। यदि मनुष्य न होता तो कैसा लगता प्रिये?

विलासवती—जैसे तुम्हारे बिना मैं? (**हँसती है**)

कालिदास—और तुम्हारे बिना मैं कैसा होता जानती हो?

विलासवती—जानती हूं।

कालिदास—बताओ! (**उठ बैठते हैं। आँखों में आँखें डालकर**) बोलो प्रिये?

विलासवती—जाइए, कविता लिखिये। मैं नहीं जानती (**हँसती हुई टहलने लगती है**)

कालिदास—तुमने ठीक संकेत किया। न मैं कवि होता न कुछ, भेड़ें चराता। यही न?

विलासवती—(**दौड़कर**) नहीं, यह मेरा आशय नहीं प्राणाधार!

कालिदास—यह विश्व चमकरहित स्वर्ण-खण्ड होता, जो खान से निकलता। व्यर्थ, सब व्यर्थ।

विलासवती—(**पास जाकर**) आप न जाने कैसे इतना सुन्दर लिख जाते हैं केवल यह बात मैं यत्न करके भी नहीं जान पाई।

कालिदास—इसमें जानने की क्या बात है। यह भी एक वेग है। मस्तिष्क हृदय से मिला हुआ प्राणों का वेग जिसमें रस की अति मात्रा है। जैसे तुम्हें देखकर हृदय में एक प्रकार की पुलक, एक प्रकार की प्रसन्नता होती है उसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य, उसका विलास देखकर मन में एक प्रकार का आह्लाद होता है। उस आह्लाद को, उस सौन्दर्य को बँधे शब्दों में उतार देने का नाम 'कविता' है। जो कवि जितनी सूक्ष्म भावना को तन्मयता के साथ, आत्मा में व्याप्त रस को पचाकर शब्दों के चित्रों द्वारा, कल्पना की कूर्चिका से मानव के हृदय-पटल पर प्रत्येक हाव-भाव चेष्टा से युक्त खींच सकता है वह उतना ही महान् कवि है?

: ४ :

[महाराज चन्द्रगुप्त का प्रासाद। उस दिन विशेष रूप से सुसज्जित। रात्रि का समय। मखमली कालीनों और स्थूलोपधानों से युक्त। प्रत्येक व्यक्ति के आसन बने हुए हैं। बीच में महाराज का पादपीठ, उसके वाम-भाग में महाराज्ञी ध्रुवदेवी का आसन। तदनसार कुबेर नागा उनकी दूसरी पत्नी का स्थान। दाईं ओर कालिदास तथा अन्य लोगों के बैठने की जगह। सामने वादित्रों के साथ विलासवती के बैठने की जगह। प्रासाद में मणि-चषकों में दीप जल रहे हैं। कुछ में अगरुगंध, कस्तूरी की बत्तियाँ जल रही हैं। धीरे-धीरे वादित्रकों के साथ विलासवती आती है। उसके बाद राजामात्य तथा अन्य कवि। प्रभावती कन्या कुबेर नागा के पास। फिर ध्रुवदेवी जय-घोष के साथ पधारती हैं। ध्रुवदेवी तथा कुबेर नागा के हाथ में नील-कमल, केश-पाश में बालकुन्द, मुख पर लोध्र-पुष्प का चूर्ण, जूड़ों में कुरबक-पुष्प, कानों में शिरीष-पुष्प लगे हुए हैं। एक परि-चारिका कुमारगुप्त को लिये उनके पीछे आती है। दो परिचारिकाएँ व्यजन करती हुई पीछे चलती हैं। धीरे-धीरे सब लोग आकर बैठ जाते हैं। केवल महाराज और कालिदास का स्थान रिक्त है।]

राजामात्य—कविवर नहीं आए, क्या कारण है? महाराज आया ही चाहते हैं।

धन्वंतरि—कवि आज सर्वथा स्वस्थ हैं, अब तक आ तो जाना चाहिए।

विलासवती—वे आ ही रहे होंगे महामंत्रिन्!

ध्रुवदेवी—विलासवती, तुम कविवर की प्रेमपात्री हो। आज कवि जिस ग्रन्थ को भेंट करना चाहते हैं, उसके उपलक्ष में तुम्हारा नृत्य ही उपयुक्त होता इसलिए महाराज से आग्रह करके तुम्हें बुलाया है।

गणदास—विलासवती कहीं भी नृत्य नहीं करतीं, केवल महादेव के सामने ही ये नृत्य करती हैं, किन्तु महाराज के आग्रह से ही इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भंग की है महाराज्ञी! ये देवदासी हैं।

ध्रुवदेवी—राजा भी तो देवता होता है, गणदास !

हरदत्त—मेरी शिष्या माधवी भी देवपाद में ही नृत्य करती थी, किन्तु महाराज ने उसकी नृत्य-कला को सर्वप्रथम स्थान दिया, इसलिए उसने महाराज के सम्मुख नृत्य करना स्वीकार किया। वह भी ऐसी-वैसी नहीं है।

गणदास—यह सब अप्रासंगिक वार्तालाप है हरदत्त। माधवी का इस समय यहाँ क्या काम ?

हरदत्त—यदि वह आज अस्वस्थ न होती तो विलासवती की आवश्यकता भी नहीं थी, गणदास।

ध्रुवदेवी—नहीं नहीं, मेरे विशेष अनुरोध से ही विलासवती को सादर आमन्त्रित किया गया है।

राजामात्य—(**अपनी श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए**) महाराज्ञी यथार्थ कहती हैं हरदत्त !

[जय-घोष के साथ महाराज आते हैं। सब खड़े हो जाते हैं। चन्द्रगुप्त बैठते हैं।]

चन्द्रगुप्त—कालिदास नहीं आए ?

राजामात्य—महाप्रभु आ रहे हैं।

[महाराज के संकेत से विलासवती नृत्य करती हैं। इसी समय कालिदास आ जाते हैं। घुँघरू बजाते ही सब व्यक्ति सतर्क हो उठते हैं—पुष्पोद्गम नृत्य-ध्वनि]

छम छम छम छम—!
छनन, छनन, छन—छम, छम, छम।
झूम, झूम, झूम, झूम, भूमि चूम, नभ चूम,
गीति छम, स्वर छम, लय छम, ताल छम,
मूर्छना-विमूर्छना प्ररोह-अवरोह छम,
गति यति छम, छम, ध्वनि छम, छम, छम,
पवन भी गई जम, हृदय की गति थम,
विरति में छम, छम, रति-यति, छम।

[**ताण्डव का मेघ के उद्गम के साथ नृत्य**]

शिव के डमरू सम, मेघ की गरज गम,
डम डम डम डम गमक गमक गम।
छम, छम, छम, छम, छम, छम,
छनन, छनन, छन-छम छम छम।

[**इसकी पुनरावृत्ति होती है। मदोन्मत्त-से सब पारिषद्य धन्य-धन्य कह उठते हैं, नृत्य समाप्त होता है, सभा में निस्तब्धता छा जाती है। बहुत देर बाद**]

चन्द्रगुप्त—धन्य है विलासवती ! धन्य है ! ऐसा नृत्य तो आज तक नहीं देखा।

ध्रुवदेवी—साक्षात् शिव ताण्डव ! मेघ भी घिर आए, बिजली भी चमकने लगी।

[**एक-एक करके महाराज, महाराज्ञी तथा राज्ञी कुबेर नागा अपना-अपना रत्नहार विलासवती को भेंट करती हैं**]

चन्द्रगुप्त—कविवर, ग्रन्थ तो समाप्त होगया न ?

कालिदास—(**उदास होकर**) आगे की कथा नहीं लिख सकता, देवि !

चन्द्रगुप्त—क्यों ?

कालिदास—सम्भव नहीं है, लेखनी मूक हो गई है, यत्न करके भी नहीं लिख पाया।

चन्द्रगुप्त—कारण ?

कालिदास—कारण मैं स्वयं नहीं जानता। लिखने बैठता हूँ तो लेखनी रुक जाती है !

ध्रुवदेवी—यत्न करो कविवर, मेरे पुत्र को दिया जाने वाला ग्रन्थ पूर्ण होना ही चाहिए।

कालिदास—इस ग्रन्थ की अपूर्णता ही पूर्णता है। विश्वास कीजिये

देवि, कुमार-सम्भव इससे आगे नहीं लिखा जा सकता।

चन्द्रगुप्त—आश्चर्य है, इतना सुन्दर काव्य और पूर्ण न हुआ।

ध्रुवदेवी—कविवर, आप कवि हैं। कवि भूत, भविष्यत्, वर्तमान का द्रष्टा होता है। क्या कारण है जो आप इसे पूर्ण नहीं कर सके?

चन्द्रगुप्त—विश्वास नहीं होता। जो आप चाहें वह न हो। आपके संकेतों पर राज्यों में परिवर्तन, प्रजा में नया विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है।

ध्रुवदेवी—तो क्या कारण है?

कालिदास—कारण, कारण कवि स्वयं नहीं जानता।

ध्रुवदेवी—मेरी प्रार्थना है, काव्य पूरा कीजिये। अपूर्ण काव्य मेरे कुमार का अपमान है।

कालिदास—मानापमान मैं कुछ नहीं जानता। कविता प्रेरणा है, न जाने क्यों मेरी प्रेरणा कुंठित हो गई है। मुझे ज्ञात हो गया इस काव्य का आगे लिखा जाना असम्भव है।

ध्रुवदेवी—तो मानना होगा आपका कवित्व समाप्त हो गया!

चन्द्रगुप्त—नहीं, ऐसा मत कहो। रघुवंश लिखा जा रहा है। उसकी गति में कोई व्यवधान नहीं है।

कालिदास—हां, रघुवंश लिखने की प्रेरणा बराबर बढ़ रही है। जब-जब कुमार-सम्भव लिखने बैठा तभी रघुवंश के छन्द, कथा लिख जाता रहा हूँ। लीजिये यह आपकी भेंट है।

ध्रुवदेवी—अपूर्ण ग्रन्थ मैं स्वीकार नहीं कर सकती। (**अचानक बालक रोने लगता है**) मैंने बड़े आग्रह के साथ आपसे प्रार्थना की थी, किन्तु आपने उसे ठुकरा दिया, कविवर!

कालिदास—(**दृढ़ता से**) देवि, मैं विवश हूँ। कवि की भाषा इस काव्य के सम्बन्ध में मूक हो गई है। (**कालिदास का स्वर दृढ़। नेत्रों से ज्योति-स्फुल्लिंग निकलते हैं। तभी वे नेत्र बन्द कर लेते हैं**)

ध्रुवदेवी—तो रहने दीजिये मुझे यह स्वीकार नहीं है, कविवर!

(इतना कहते ही बालक वेग से रोने लगता है। ध्रुवदेवी की परिचारिका के चुप कराने तथा पुचकारने पर भी बालक गला फाड़-फाड़कर रोता ही रहता है। ध्रुवदेवी परिचारिका के साथ बालक को लेकर चली जाती है, बालक के रोने की आवाज आती रहती है। ध्रुवदेवी फिर लौट आती है।) न जाने कुमार को क्या हो गया ?

वराहमिहिर—देवि, हमको कवि का ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा। इसी में बालक का कल्याण है।

ध्रुवदेवी—(चुप)

कुबेर नागा—महारानी ! सरस्वती का, कवि का अपमान मत कीजिये। **(बालक के रोने की ध्वनि)** परिचारिका !

परिचारिका—कुमार बहुत रो रहे हैं, उनका स्वर रोते-रोते बैठ गया है।

चन्द्रगुप्त—देवि, विधाता की इच्छा है कि ग्रन्थ को अस्वीकार न किया जाय। **(कालिदास जाने लगते हैं)** ठहरिये कविवर, इसमें आपका दोष नहीं है।

परिचारिका—महारानी ! बालक असंज्ञ हो रहा है। **(ध्रुवदेवी चली जाती हैं)**

वराहमिहिर—महाराज ! **(पास जाकर)** यदि यह ग्रन्थ कुमार को भेंट न किया गया तो अनर्थ हो जायगा। यह कवि का नहीं भगवती सरस्वती का अपमान है !

राजामात्य—महाराज ! आपने जो स्वप्न देखा था यह उसी का प्रभाव है। नारद स्वयं कह गये थे कि काव्य के पूर्ण होने की सभावना कम है।

वराहमिहिर—यदि सरस्वती रूठ जातीं तो रघुवंश भी अपूर्ण रहना चाहिए। यह मेरी समझ में नहीं आता। कालिदास झूठ नहीं कहते। महाराज, इसी में साम्राज्य का कल्याण है कि ग्रन्थ कुमार को भेंट किया जाय।

चन्द्रगुप्त—वराहमिहिर, मैं क्या करूँ महारानी नहीं चाहतीं।

वराहमिहिर—महारानी को चाहना होगा। बालक उस समय तक रोना बन्द नहीं करेगा जब तक ग्रन्थ उसे भेंट नहीं किया जायगा। **(रोने की ध्वनि आती है)**

चन्द्रगुप्त—बड़ा आश्चर्य है, वराहमिहिर !

राजामात्य—बड़ा आश्चर्य है, महाप्रभु ! **(कालिदास जाने लगते हैं)**

चन्द्रगुप्त—ठहरिये कविवर ! **(बालक को लिये हुए ध्रुवदेवी आती हैं)**

ध्रुवदेवी—महाराज, न जाने कुमार को क्या हो गया !

चन्द्रगुप्त—देवी, हमको यह ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा, इसी में बालक का कल्याण है।

[ध्रुवदेवी चुप रहती है]

कुबेर नागा—महारानी, इस तरह कवि का अपमान मत कीजिये, चलिए।

ध्रुवदेवी—**(पास जाकर)** कविवर, मैं आपका ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार करती हूं।

चन्द्रगुप्त—यही उचित है, देवि !

[ग्रन्थ लेकर आगे बढ़ते ही बालक चुप हो जाता है। कवि बालक को ग्रन्थ-स्पर्श कराकर ध्रुवदेवी को भेंट करते हैं। आकाश में मेघ गरजने लगते हैं, बिजली कड़कती है। कालिदास ग्रन्थ भेंट करते हुए नेत्र बन्द करके कहते हैं—

"अनवाप्तमवाप्तव्यं न किंचन हि विद्यते
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।"

ध्रुवदेवी बालक को गोद में लेकर ग्रन्थ स्वीकार करती हैं, चन्द्रगुप्त सिर झुकाए खड़े हो जाते हैं। जय-घोष होता है—कविवर कालिदास की जय !]

[परदा गिरता है]

५

क्रांतिकारी विश्वामित्र

(वैदिक युग का एक चित्र)

पात्र-परिचय

लोपामुद्रा
विश्वामित्र
वसिष्ठ
जमदग्नि
अगस्त्य
अंगिरस
शुनःशेप
हरिश्चन्द्र
रोहित
राजमहिषी
अजीगर्त
अन्य

[समय—प्रातःकाल दो घड़ी दिन चढ़े। यज्ञ-वेदिका से गन्ध-धूम उठ रहा है। ज्ञात होता है प्रातःकाल का अग्निहोत्र अभी समाप्त हुआ है। सामग्री इधर-उधर बिखर रही है। कुशासन भी अभी तक जहाँ-तहाँ बिछे हैं। उसी के पास उपलिप्त भूमि के चारों ओर आलवालों में पुष्प, तुलसी के पौधे लगे हैं। स्थान-स्थान पर काष्ठ-शिला पट्टकों पर मृग-चर्म बिछे हैं। महाराज हरिश्चन्द्र एक फलक पर बड़ा उपधान लगाये मृग-चर्म पर लेटे हैं। कभी-कभी वे उठकर बैठ जाते हैं। उनके आसन के

सामने कुछ दूरी पर हिरन विचर रहे हैं। हरिश्चन्द्र की वयस् लगभग ४० वर्ष। बड़े-बड़े सिर के बाल, मस्तक पर तिलक, दाढ़ी और मूँछें। गौर वर्ण, भव्य तेजस्वी आकृति, बलपूर्ण शरीर। कंधे पर उत्तरीय। बाहुओं में अंगद। कौषेय-पट पहिने। चिन्तातुर आकृति। वैसी किशोर आकृति में पन्द्रह वर्ष का रोहित उनके सामने खड़ा है। हरिश्चन्द्र उसे ललचाई आँखों से देख रहे हैं।]

रोहित—मैं भी आज मृगया के लिए जाऊँगा पिताजी! यह देखिए, (**तूणीर में बाण और कन्धे का धनुष दिखाकर**) मुझे आज्ञा दीजिये।

हरिश्चन्द्र—सुन्दर है। तो किसी अंगरक्षक को साथ ले जाओ पुत्र!

रोहित—मेरे सहाध्यायी साथ हैं। हम लोगों ने निश्चय किया है कि बिना सिंह की मृगया किये न लौटेंगे।

हरिश्चन्द्र—सिंह शावक हो न! जाओ। (**ताली बजाकर। एक अंगरक्षक से**) देखो, तुम राजकुमार के पीछे-पीछे जाओ। ध्यान रखना हाँ।

अंगरक्षक—(**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा। (**रोहित को लेकर जाता है**)

हरिश्चन्द्र—बड़ा कठोर कार्य आकर उपस्थित हुआ है, एक ओर पुत्र का मोह, उसके प्राणों की रक्षा और दूसरी ओर प्रतिज्ञा-पालन, मैंने अपने जीवन में कभी प्रतिज्ञा भंग नहीं की, कभी सत्य से पीछे नहीं हटा, किन्तु आज ऐसा लगता है···ऐसा लगता है मैं पुत्र के बिना जी न सकूँगा, एक क्षण भी प्राण न रख सकूँगा, क्या करूँ? कोई उपाय नहीं है, कोई भी उपाय नहीं है, सुना है वरुणदेव ने कुल-पुरोहित वसिष्ठ को आज्ञा दी है कि शीघ्र हो यदि रोहित की बलि न दी गई तो हरिश्चन्द्र असह्य रोग से पीड़ित होगा, पुत्र···। पुत्र रोहित, ऊँचा बलवान, कान्तिमान, चतुर, विद्वान और आज्ञाकारी है। उसने क्या पाप किया, जो मैं उसकी बलि दूँ। नहीं मैं कष्ट भोगूँगा, किन्तु पुत्र-वध नहीं करूँगा। यह महापाप है। (**ठहरकर**) किन्तु सत्य का पालन, सत्य का पालन तो करना

ही होगा। मैं कष्ट भोगकर, अपने प्राण देकर भी देवता को प्रसन्न करूँगा। वरुणदेव मेरे प्राण ले लें, मैं उद्यत हूँ। (**राजमहिषी का प्रवेश**)

राजमहिषी—महाराज, क्या सोच रहे हैं?

हरिश्चन्द्र—यही कि मैं कष्ट भोगकर, रोगी रहकर, अपने प्राण दूँगा, और इस तरह सत्य का पालन करूँगा। इतना सुन्दर पुत्र, आ··· आ···उसको देखते ही आँखें चमकने लगती हैं, हृदय सन्तुष्ट हो जाता है, प्राण तृप्त हो उठते हैं। वह मेरे वंश का दीपक है, बड़ी साधना-तपस्या के बाद पाये पुत्र को···नहीं···नहीं···।

राजमहिषी—हाँ महाराज, वरुणदेव को हम और उपायों से प्रसन्न करेंगे, और आप चिन्ता क्यों करते हैं? हम वरुणदेव को किसी-न-किसी तरह प्रसन्न कर लेंगे।

हरिश्चन्द्र—हाँ, पर यह मेरी छाती में पीड़ा क्यों हो रही है, दर्द बढ़ रहा है, बढ़ता ही जाता है, देवि···ओ···कोई उपाय करो, उपाय करो। (**रुककर**) यह अपने आप थोड़ी देर में शान्त हो जायेगा, नहीं···नहीं···(**वशिष्ठ तथा अन्य व्यक्तियों का प्रवेश**) आह, क्या यह रोग किसी तरह भी कम न होगा! आहः पीड़ा के मारे प्राण निकले जा रहे हैं! मुनिवर, क्या आप भी कोई उपाय नहीं बता सकते? बड़ी पीड़ा है देवी! ओह मैं क्या करूँ, क्या करूँ वशिष्ठ गुरु?

राजमहिषी—महाराज! धैर्य रखिये, कष्ट अवश्य शान्त होगा, भगवान वरुणदेव अवश्य कृपा करेंगे।

हरिश्चन्द्र—नहीं, भगवान वरुणदेव मेरे प्राण लेना चाहते हैं तो ले लें, किन्तु अपने जीते-जी ओ···ओ···(**मूर्छित हो जाते हैं**)

वशिष्ठ—मूर्छित हो गये!

राजमहिषी—(**निहोरे से आँचल पसारकर**) मुनिवर, कोई उपाय कीजिये! महाराज के प्राण बचाइये! मेरे प्राण उपस्थित हैं।

वसिष्ठ—इसका तो एक ही उपाय है, रोहित की बलि, महारानी!

राजमहिषी—वह तो महाराज प्राण रहते नहीं स्वीकार करना चाहते, किन्तु वे वरुणदेव के प्रति अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना चाहते हैं। क्या और कोई उपाय नहीं है ?

वसिष्ठ—(**गम्भीर होकर**) और कोई उपाय नहीं है, महाराज को अपने पुत्र रोहित की बलि देनी ही होगी। वे देवता से वचन-बद्ध हैं। उन्होंने पुत्र की कामना के हेतु जो प्रतिज्ञा की थी···तुम्हें स्मरण है ?

राजमहिषी—हाँ महाराज, मुझे स्मरण है। उन्होंने पुत्र की कामना करते हुए वरुणदेव से प्रार्थना की थी कि यदि उनके पुत्र हुआ तो उसकी यज्ञ में वरुणदेव को बलि देंगे किंतु···।

वसिष्ठ—फिर मुझे आपत्ति का कोई कारण नहीं दिखाई देता, आर्य नृपति दो वचन नहीं कहते।

राजमहिषी—मैं महाराज को किस तरह समझाऊँ, वे पुत्र-मोह में अपनी चेतना खो बैठे हैं। वे नहीं चाहते कि रोहित की बलि दी जाय। वे कहते हैं कि रोहित की बलि के बाद वे जीवित नहीं रह सकेंगे। उन्हें इस संसार में केवल रोहित के द्वारा ही प्रकाश दिखाई देता है। पुत्र तो आखिर पुत्र ही है न मुनिवर !

वसिष्ठ—और तुम क्या कहती हो ?

राजमहिषी—मेरी चेतना पतिमय है गुरुदेव ! वे जो कुछ सोचते हैं वही मैं सोचती हूं, वे जो कुछ कहते हैं वही मैं बोलती हूँ, मेरा अपना स्वरूप कुछ भी नहीं है।

वसिष्ठ—तो तुम इस प्रतिज्ञा-भग के पाप से भी नहीं डरतीं ?

राजमहिषी—मैं चाहती हूं वे निष्पाप हों।

वसिष्ठ—तो तुम महाराज को परामर्श दो कि वे पुत्र-मोह त्यागकर अपनी प्रतिज्ञा के लिए रोहित की यज्ञ में बलि दें।

राजमहिषी—पिता अपनी आँखों के सामने अपने जीवित पुत्र को अग्नि में जलवाने दे, माता अपने प्राण के सर्वस्व को जलता देखती रहे ! कोई और उपाय बताइये, आप हमारे पुरोहित हैं वसिष्ठ ! आप

वेद-ज्ञानी हैं, मंत्रद्रष्टा हैं। आप वरुणदेव से प्रार्थना कीजिये कि वे हम पर कृपा करें। हम अन्य सभी उपायों से उन्हें प्रसन्न करने को प्रस्तुत हैं।

वसिष्ठ—इस रोग की एकमात्र औषधि पुत्र की बलि है। मैं कोई और उपाय नहीं जानता, महाराज को पुत्र की बलि देनी ही होगी।

हरिश्चन्द्र—(**चैतन्य होकर**) ओह! क्या मेरी बलि से देवता प्रसन्न होंगे?

वसिष्ठ—नहीं।

राजमहिषी—मैं प्रस्तुत हूं महाराज!

वसिष्ठ—नहीं।

हरिश्चन्द्र—मेरा वंश नष्ट हो जायेगा। वंश-वृद्धि के लिए मनुष्य सन्तान उत्पन्न करता है वसिष्ठ!

राजमहिषी—ऐसा तो आज तक कभी नहीं हुआ कि आर्य देवता नर-बलि से प्रसन्न हों।

वसिष्ठ—ऐसी प्रतिज्ञा भी आज तक किसी ने नहीं की थी अमात्य!

राजमहिषी—आर्य देवता तो सचमुच नर-बलि के पक्षपाती कभी नहीं सुने गये। क्या वे निश्चय ही मेरे पुत्र की बलि चाहते हैं?

वसिष्ठ—इसमें सन्देह के लिए कोई भी स्थान नहीं है, प्रतिज्ञा··· (**हरिश्चन्द्र पीड़ा से छटपटाने लगते हैं, पत्नी बिसूरने लगती है**) मैं स्वयं महाराज के कष्ट से अभिभूत हूं, किन्तु विवश हूं। आप निरन्तर सोलह वर्ष तक अपनी प्रतिज्ञा टालते रहे हैं, इसी कारण देवता आप पर क्रुद्ध हैं। मुझे विश्वास है कि वे रोहित की बलि नहीं ग्रहण करेंगे, फिर भी उसको यज्ञ में स्थूण से बाँधना होगा, और···

हरिश्चन्द्र—और क्या···भयंकर कष्ट है प्रभो!···हे देव···ओ··· पीड़ा···पीड़ा···प्राण निकले जा रहे हैं, ओ···(**फिर मूर्छित हो जाते हैं**)

वसिष्ठ—महाराज फिर मूर्छित हो गये। मैं और कुछ भी नहीं जानता। मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया, देवता का यही आदेश है।

[**हरिश्चन्द्र फिर छटपटाते हैं**]

राजमहिषी—मैं पुत्र की बलि दूँगी, मैं पुत्र की बलि दूँगी···

हरिश्चन्द्र—(**चेतन होकर**) फिर वही कष्ट···फिर वही···क्या करूँ···। कोई उपाय नहीं है मुनिवर ?

वसिष्ठ—कोई उपाय नहीं है, पुत्र की बलि···

हरिश्चन्द्र—आपका पौरोहित्य फिर व्यर्थ है, व्यर्थ हैं आप !

वसिष्ठ—(**क्रोध से**) मैं तुम्हारी निर्बलता से ऊब उठा हूं हरिश्चन्द्र ! असत्य प्रतिज्ञ···निर्बल, देव-द्रोही हो तुम···मैं धर्म-हीन मनुष्य का साथ नहीं दे सकता, मैं जाता हूं। तुम कष्ट भोगो और देवता के क्रोध-भाजन बनो। मैं कुछ नहीं कर सकता।

हरिश्चन्द्र—(**गिड़गिड़ाकर**) मुनिवर ! मुझ से भूल हुई, क्षमा कीजिये। ओ···कष्ट···

राजमहिषी—दया करें देव···!

वसिष्ठ—अब मेरा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, मैं आपकी रक्षा नहीं कर सकता, मैं जाता हूँ तुम मोह-ग्रस्त हो।

हरिश्चन्द्र—(**थोड़ी देर वसिष्ठ को जाते देखते रहकर**) जैसी आपकी इच्छा, मैं विश्वामित्र को अपना पुरोहित बनाऊँगा।

वसिष्ठ—(**लौटकर**) विश्वामित्र को, उस क्षत्रिय ऋषि को, जिसने अपने जीवन को प्रारम्भ से आर्यों की परम्परा के प्रतिकूल अनार्यों से सम्बन्ध बनाये रक्खा है, वह अनार्य मत का प्रवर्तक। (**चले जाते हैं**)

[वही स्थान। वही दृश्य]

राजमहिषी—कहो अमात्य, कोई ब्राह्मण कुमार मिला।

अमात्य—बड़ी कठिनाई से एक ब्राह्मण युवक मिला है देवि, अजीगर्त का मध्यम पुत्र।

राजमहिषी—अगस्त्य से शापित, अजीगर्त का मध्यम पुत्र। कैसे राजी हुआ वह अजीगर्त ?

अमात्य—अजीगर्त के तीन पुत्र हैं, बड़े को पिता चाहते हैं, छोटे को उसकी पत्नी, मध्यम को कोई नहीं। इसलिए सौ गायें लेकर अजीगर्त

ने मध्यम पुत्र को दिया है।

राजमहिषी—क्या उस बालक के लिए किसी के हृदय में मोह नहीं है, कैसे हैं वे माँ-बाप ! आ···विचार निःस्नेह बालक···।

अमात्य—माता तो विरोध कर रही थी, किन्तु अजीगर्त सौ गायों के लोभ को न रोक सके। उन्होंने सब के विरोध करते हुए भी उसे दे दिया।

महिषी—क्या तुमने कहा था कि उस युवक की बलि दी जायेगी ?

अमात्य—हाँ।

महिषी—उस बालक को यह मालूम हो गया था ? नहीं अमात्य, यह मुझ से नहीं हो सकेगा, न सही मेरा बालक, पर बालक तो है।

अमात्य—यदि आप मोह में रहेंगी तो महाराज का कष्ट दूर न होगा, और वे प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सकेंगे। इस समय दया दिखाने से काम न चलेगा देवि !

महिषी—तुम सच कहते हो अमात्य, किन्तु यह तो बड़ा अन्याय है कि हम सौ गायें देकर एक ब्राह्मण के पुत्र की बलि दें।

अमात्य—स्वार्थ के लिए सब कुछ करना होता है देवि ! वह बालक भी नहीं चाहता कि उसकी बलि दी जाये।

महिषी—फिर, फिर अमात्य मैं क्या करूँ ? ओह, बड़ा कष्ट है ! न जाने भगवान् वरुणदेव ने ऐसा निश्चय क्यों किया ?

अमात्य—यह तो महाराज का निश्चय है।

महिषी—**(लम्बी साँस लेकर)** हाँ अमात्य, महाराज का निश्चय है किन्तु मैं सोचती हूँ क्या कभी ऐसा हुआ है कि क्रय करके किसी ब्राह्मण कुमार की बलि दी गई हो।

अमात्य—नहीं ऐसा कभी नहीं हुआ। आज तक किसी भी मनुष्य की यज्ञ में बलि नहीं दी गई।

महिषी—मैं पूछती हूँ, फिर अब ऐसा क्यों हो रहा है। वसिष्ठ इतना आग्रह क्यों कर रहे थे, और वे क्रोध में भरकर हम लोगों को

छोड़कर भी चले गये।

अमात्य—यह मैं कुछ भी नहीं जानता महारानी !

महिषी—अब यज्ञ कौन करायेगा ?

अमात्य—महाराज ने महर्षि विश्वामित्र को आने का निमंत्रण दिया है, वे ही यज्ञ करायेंगे।

महिषी—महर्षि विश्वामित्र, वे बड़े ज्ञानी हैं, परोपकारी भी, भला उस बालक का नाम क्या है ? वह कहाँ है ?

अमात्य—शुनःशेप, वह परिचरों द्वारा लाया जा रहा है।

महिषी—शुनःशेप, क्या वह मन्त्र-द्रष्टा होने की इच्छा रखने वाला युवक ? नहीं, यह नहीं होगा, मैं स्वयं प्राण दे दूँगी, किन्तु उस मन्त्र-द्रष्टा बालक, कुमार की बलि न होने दूँगी। नहीं, यह कभी नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। (**चिल्लाती जाती है**)

अमात्य—न जाने क्या होने वाला है ?

[मार्ग में शुनःशेप चिल्लाता हुआ]

शुनःशेप—अरे मुझे कहाँ ले जा रहे हो, मुझे छोड़ दो भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?

पहला व्यक्ति—छोड़ कैसे दें, तुम्हारे पिता को तुम्हारे बदले में सौ गायें दी हैं न।

शुनःशेप—उससे मुझे क्या ?

दूसरा व्यक्ति—तुम उसके पुत्र हो या नहीं।

शुनःशेप—पुत्र होने से क्या मैं उनके पाप-पुण्य, विचार-अविचार का भी भागी हूँ।

पहला व्यक्ति—माता-पिता का दुख पुत्र को भी भोगना होता है शुनःशेप !

शुनःशेप—उनको क्या दुख है, वे निस्नेही हैं, वे मेरे पिता नहीं हैं, कोई पिता अपने पुत्र को नहीं बेचता।

दूसरा व्यक्ति—हम नहीं जानते, तुमको चलना ही होगा। बाँधकर ले

चलो इसे। (**दोनों बाँधते हैं**)

[शुनःशेप चिल्लाता है]

शुनःशेप—मुझे कोई बचाओ, ये दुष्ट मुझे बाँधकर वध के लिए ले जा रहे हैं। अरे कोई मेरी रक्षा करो! रक्षा करो!

दोनों व्यक्ति—यहाँ तुम्हारा कोई रक्षक नहीं है।

शुनःशेप—किन्तु मैंने क्या पाप किया है भाई, मैं निरपराध हूँ। अरे कोई मुझे बचाओ, यह महान् अनर्थ है कि पिता के कारण मुझ निरपराध की हत्या हो।

पहला व्यक्ति—ज्ञात होता है कि तुम तनिक भी पितृ-भक्त नहीं हो, लोग तो पिता की आज्ञा पर प्राण तक दे देते हैं।

शुनःशेप—पर मैं ऋग्वेदकार ऋषि होना चाहता हूँ। मुझे जीने दो भाई, मैं जीना चाहता हूँ। जीवन परम सुख है।

पहला व्यक्ति—तुमने पिता के सामने तो कोई आपत्ति नहीं की, उनके सौ गौओं के स्वीकार करते ही तुम चले आये।

शुनःशेप—इसलिए कि मैं वहाँ बहुत ही दुःखी था, वे मुझे नहीं चाहते थे न जाने क्यों, और माता-पिता का सम्बन्ध केवल प्रत्यक्ष तक रहता है। मैं मंत्र-द्रष्टा होना चाहता हूँ, मैं जीना चाहता हूँ, मुझे जीवन दो!

पहला व्यक्ति—बाँधो, यह ऐसे न चलेगा।

दूसरा व्यक्ति—हाँ, मैं हाथ पकड़ता हूँ, तुम पैर बाँध दो। (**दोनों बाँधते हैं। शुनःशेप चिल्लाता है। इसी समय विश्वामित्र प्रवेश करते हैं**)

विश्वामित्र—क्या है, क्यों इस युवक को बाँधकर ले जा रहे हो?

पहला व्यक्ति—महर्षि, हरिश्चन्द्र महाराज ने अजीगर्त से सौ गायों के बदले में यज्ञ की बलि के लिए उसके मध्यम पुत्र को क्रय किया है, हम उनके अनुचर हैं।

विश्वामित्र—क्या यज्ञ में इसकी बलि दी जायगी? नर-बलि! उस यज्ञ के लिए तो महाराज ने मुझे भी निमंत्रण दिया है।

शुनःशेप—मुझे बचाइये महर्षि! यह बड़ा अन्याय हो रहा है, मेरी

रक्षा करो देव ! (**चिल्लाता है**) मैं मंत्र-द्रष्टा होना चाहता हूँ।

विश्वामित्र—शोक मत करो वत्स, मैं यथाशक्ति इस यज्ञ में नर-बलि न होने दूँगा। यह देवाज्ञा नहीं हो सकती।

शुनःशेप—यह लोग मुझे बाँधकर लिये जा रहे हैं ! मुझे छुड़ाइये ! मुझे छुड़ाइये !

पहला व्यक्ति—हम लोग तुम्हें किसी तरह छोड़ नहीं सकते। तुम चाहे कितना ही चिल्लाओ।

विश्वामित्र—ठहरो ! ठहरो ! तुम उस पापी अजीगर्त के मध्यम पुत्र हो।

शुनःशेप—मैं शुनःशेप हूँ महर्षि !

विश्वामित्र—शुनःशेप, अजीगर्त का मध्यम पुत्र। (**अनुचरों से**) सुनो, क्या तुम इस युवक को छोड़ नहीं सकते ? इसके बदले में मुझे पकड़कर ले चलो।

पहला व्यक्ति—नहीं, यही क्रीत है। महाराज ने सौ गायों में इसे खरीदा है, हम को आज्ञा है कि इसे शीघ्र ही महाराज के निकट पहुँचा दें, हम और किसी को नहीं ले जा सकते।

विश्वामित्र—मैं बलि को तैयार हूँ। तुम मुझे ले चलो, इसे छोड़ दो।

दोनों व्यक्ति—महर्षि, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु हम शुनःशेप को छोड़ नहीं सकते। इन्हें तो महाराज के निकट पहुँचाना ही होगा।

विश्वामित्र—क्या किसी तरह भी तुम शुनःशेप को बन्धन-मुक्त नहीं कर सकते ?

दोनों व्यक्ति—नहीं, हमारा काम तो इन्हें राजा के पास पहुँचाना भर है।

विश्वामित्र—(**सोचकर खिन्न मन से**) अच्छा शुनःशेप, तुम चलो,

जमदग्नि के साथ, तुम चलो।

[तीनों चले जाते हैं, शुनःशेप चिल्लाता रहता है]

शुनःशेप—मेरी रक्षा कीजियेगा देव ! मैं निरपराध हूँ ! (**चला जाता है। आवाज आती रहती है**)

विश्वामित्र—शुनःशेप अजीगर्त का मध्यम पुत्र, शुनःशेप अजीगर्त नराधम।···मैं यह नर-बलि नहीं होने दूँगा। देवता ऐसा कभी नहीं चाहते ! देवता ऐसा कभी नहीं चाह सकते, हम सब उनकी सन्तान हैं, वे हमारे पिता हैं, जनक हैं, जनक पुत्र की हत्या नहीं चाहते। मैं ऐसा न होने दूँगा, यह मेरी परीक्षा का अवसर है। दूसरी परीक्षा—एक बार त्रिशंकु की मैं रक्षा कर चुका हूँ, शुनःशेप, मैं तुम्हारे लिए प्राण दे दूँगा। नराधम अजीगर्त !···

[अजीगर्त का प्रवेश]

अजीगर्त—हां ! (**हा हा हा अट्टहास करके**) हां शुनःशेप अजीगर्त का पुत्र, इसके बदले में मुझे सौ गायें जो मिली हैं।

विश्वामित्र—अजीगर्त, तुम को इस प्रकार अपने पुत्र को बेचते लज्जा नहीं आई ! तुम्हारा हृदय पुत्र की मृत्यु का ध्यान करके फट नहीं गया ! क्या तुम में मनुष्यत्व रह ही नहीं गया अजीगर्त ?

अजीगर्त—ओ महर्षि विश्वामित्र, तुम हो। मुझे इसके बदले में सौ गायें प्राप्त हुई हैं। मैं चिन्ता क्यों करूँ, मेरी कामनाएं पूर्ण होंगी। अगस्त्य के शाप का अन्त होगा, मैं धनी बनूँगा।

विश्वामित्र—अगस्त्य का शाप।

अजीगर्त—हां, मुझे महर्षि अगस्त्य ने शाप दिया था। उसी के कारण मैं निरीह दर-दर भटकता फिरता हूँ। मुझे कोई भी अपने आश्रम में रहने नहीं देता, मुझे समाज से सब ने पतित कर दिया है।

विश्वामित्र—सो कैसे ?

अजीगर्त—मैं भी महर्षि अगस्त्य का शिष्य हूँ विश्वामित्र ! एक बार विवाह के बाद मेरे पुत्र की मृत्यु हो गई। लोपामुद्रा ने मुझे आज्ञा दी

कि मैं विश्वरथ की पत्नी उग्रा के पुत्र को उठा लाऊँ और उसके स्थान पर अपने मृत पुत्र को रख दूँ, क्योंकि बड़ा होने पर उग्रा का पुत्र आर्यों से अपने नाना का बदला लेगा, जिसे सपरिवार अगस्त्य ने मार डाला था। लोपामुद्रा ने चाहा कि मैं वह पुत्र उसे दे दूँ, पर मैं ऐसा नहीं कर सका, तब महर्षि ने मुझे समाज से पतित होने का शाप दिया।

विश्वामित्र—(अपने आप सोचते हुए) तो क्या यह शुनःशेप मेरा ही पुत्र है, नहीं तुम झूठ कहते हो, उग्रा के पुत्र की मृत्यु मेरे सामने हुई थी।

अजीगर्त—आपने अन्तिम समय उसे नहीं देखा, वह मेरा ही पुत्र था।

विश्वामित्र—(आश्चर्य से) वह मेरा पुत्र नहीं था, क्या कह रहे हो तुम···**(भयंकर षड्यंत्र)** मेरा ही नाम विश्वरथ था, यह तुम्हें ज्ञात है।

अजीगर्त—मुझे मालूम है, शंबर राक्षस की कन्या उग्रा से विवाह कर लेने के कारण सब आर्य आप से नाराज हो गये थे, अगस्त्य ऋषि भी।

विश्वामित्र—हाँ, मैं चाहता था कि आर्य-अनाय दोनों परस्पर सद्भावना से रहें। नित्य-प्रति का गृह-कलह, युद्ध बन्द हो। सब लोग सुखी हों, देश में सुख-शान्ति रहे।

अजीगर्त—आपके उग्रा के साथ विवाह करने के प्रस्ताव पर ही कितना भयंकर विरोध सब लोगों की तरफ से हुआ, कोई भी वैदिक ऋषि नहीं चाहता था कि आर्य-अनार्यों का मिलन हो।

विश्वामित्र—किन्तु अन्त में मुझे सफलता मिली, जनता मेरे पक्ष में हो गई। सब आर्यजन अनार्यों के साथ मिल-जुल कर रहने लगे।

अजीगर्त—इसी कारण लोग आपको विश्वरथ से विश्वामित्र कहने लगे।

विश्वामित्र—हाँ, तभी से मेरा नाम विश्वामित्र हुआ, मैंने जन्म की वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध किया। स्वयं जन्मजात क्षत्रिय गाधि की सन्तान होते हुए भी कान्यकुब्ज का राज्य त्यागकर मैंने तप किया और

ब्राह्मण बना।

अजीगर्त—आपके आर्यों-अनार्यों को मिलाने के प्रयत्नों से कौन अपरिचित है विश्वामित्र?

विश्वामित्र—**(सोचते हुए)** तो यह शुनःशेप मेरा ही पुत्र है।

अजीगर्त—हां, तुम्हारा ही पुत्र, राक्षसी का पुत्र, इसी से मैंने सौ गायों के लोभ से उसे बेच दिया है। वह तुम्हारा पुत्र है, उसे छुड़ाओ।

विश्वामित्र—**(सोचकर)** एक व्यक्ति अपने पुत्र के मोह में दूसरे के पुत्र की बलि दे रहा है, दूसरा व्यक्ति पौरोहित्यवश अपने पुत्र की बलि देगा अजीगर्त! तुम जा सकते हो।

अजीगर्त—यदि तुम्हें शुनःशेप की बलि देने में कष्ट का अनुभव हो तो मुझे सौ गायें और देना। मैं उसे स्थूण से बाँधकर उसका गला काट कर अग्नि में चढ़ा दूँगा।

विश्वामित्र—एक पतित व्यक्ति से सब कुछ सम्भव है अजीगर्त!

अजीगर्त—जिसका समाज ने तिरस्कार किया है, जिसे कहीं भी आश्रम में स्थान नहीं है, जो कई दिनों तक भूखा रहकर नर-मांस भी खाने लगा है उससे तो इससे अधिक की भी आशा की जा सकती है।

विश्वामित्र—यदि तुम यह दुष्कर्म छोड़ दो तो मैं तुम्हें शाप-मुक्त कर सकता हूँ। यह अनाचार छोड़ दो, तप करो।

अजीगर्त—मैं पापों में गले तक डूब चुका हूँ, मुझे अब इसी में सुख है।

विश्वामित्र—तुम अब भी सुधर सकते हो, पश्चाताप की अग्नि बड़ी पवित्र होती है अजीगर्त!

अजीगर्त—मुझे किसी अग्नि की आवश्यकता नहीं है। मेरे स्त्री है, पुत्र है, वे भी मेरी तरह नर-मांस बड़े स्वाद से खा लेते हैं, फिर मुझे किस बात की चिन्ता है। अच्छा मैं चला मेरे पास सौ गायें हैं, मैं धनी हो गया हूँ। **(जाता है)**

विश्वामित्र—(**सोचते हुए**) यह भी एक दिन हमारे ही समाज का अंग था, विद्वान मंत्र-द्रष्टा, किन्तु हमने इसका त्याग करके, समाज से बहिष्कृत करके इसे पतित बना दिया और, आज इसे ध्यान भी नहीं है कि यह कभी वेदज्ञ, तपस्वी ब्राह्मण था। कितना बड़ा पतन है मनुष्य का! सुनो अजीगर्त, सुनो, एक बार मेरी बात सुनते जाओ।

अजीगर्त—(**दूर से ही उत्तर देता हुआ**) अजीगर्त के कानों में शीशा भर दिया गया है, विश्वामित्र! वह इतना आगे बढ़कर पीछे नहीं लौट सकता। यदि सौ गायें और देने की इच्छा हो तो शुनःशेप की बलि के लिए मुझे बुला लेना। (**चला जाता है**)

विश्वामित्र—ठीक है तुम नहीं लौट सकते, तुम्हारा हृदय उस पुष्प की तरह है जो समाज के पैरों-तले कुचले जाने पर फिर अपना रूप नहीं ग्रहण कर सकता, किन्तु वह उस वृक्ष की खाद तो बन सकता है, फिर उसमें नये फल उग सकते हैं। क्या तुम मनुष्य नहीं बनोगे अजीगर्त? (**वेग से चले जाते हैं**)

[**यज्ञ-भूमि में कोलाहल। सब लोग बैठे हैं। नेपथ्य में**]

जमदग्नि—आइये विश्वामित्र, आज आप बहुत चिन्तित दिखाई दे रहे हैं। विश्वामित्र, क्या कारण है?

विश्वामित्र—ऋषिवर! मैंने सुना है, हरिश्चन्द्र इस यज्ञ में नर-बलि दे रहा है!

जमदग्नि—नर-बलि! क्यों?

विश्वामित्र—हरिश्चन्द्र ने पुत्र की कामना के लिए वरुणदेव से कामना की थी कि पुत्र होने पर वह यज्ञ में अपने पुत्र की बलि देकर वरुणदेव को प्रसन्न करेगा।

जमदग्नि—किन्तु यज्ञ में बलि तो आर्यों की प्रथा नहीं है।

विश्वामित्र—अब उसने पुत्र के बदले में एक ब्राह्मण युवक को बलि के लिए चुना है।

जमदग्नि—यह और भी अनुचित है, मैं उस यज्ञ में भाग नहीं ले सकता, जिसमें नर-बलि दी जा रही हो। मुझे हरिश्चन्द्र का निमंत्रण स्वीकार नहीं है।

विश्वामित्र—मैं इस यज्ञ में केवल इसी उद्देश्य से जा रहा हूँ कि इस जघन्य प्रथा को रोकूँ। लो हम आ गये।

[यज्ञ-स्थल में कोलाहल हो रहा है]

अथास्य—राजा हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र तो अभी आये नहीं हैं।

अंगिरस—प्रथम तो प्रश्न यह है कि क्या अपने पुत्र रोहित की अपेक्षा आप और किसी ब्राह्मण की बलि देकर वरुणदेव को प्रसन्न कर सकते हैं हरिश्चन्द्र ?

अथास्य—ऐसा कभी नहीं हुआ।

अंगिरस—मैं ऐसा यज्ञ नहीं करा सकता, जिसमें प्रतिज्ञात एक नर के बदले दूसरे की बलि दी जा रही हो।

हरिश्चन्द्र—मैं अपने पुत्र की बलि नहीं दे सकता। मैं उसके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता, इसलिए यह मैंने निश्चय किया है, आप यज्ञ कराइए अथास्य।

[विश्वामित्र का प्रवेश]

विश्वामित्र—इस यज्ञ में नर-बलि का मैं घोर विरोध करता हूँ !

जमदग्नि—मैं भी।

अथास्य—मैं इस पक्ष में हूँ कि यदि बलि ही देनी है तो राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की बलि दें, तभी देवता यज्ञ-भाग स्वीकार करेंगे।

विश्वामित्र—मैं किसी बलि के पक्ष में नहीं हूँ।

हरिश्चन्द्र—महर्षि, मैं आपकी बात मानता हूँ, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या देवता बिना बलि के प्रसन्न होंगे ? **(बीमारी का नाटच)**

विश्वामित्र—नर-बलि अमानुषिक है, यह अनार्य आचरण है।

हरिश्चन्द्र—किन्तु···मुझे तो देवता को प्रसन्न करना है। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है, मुझे तो सत्य का पालन करना है, अतः आप इस

ब्राह्मण की बलि देकर यज्ञ कराइये। विश्वामित्र महर्षि, मैं आपको यथेष्ट दक्षिणा दूँगा।

विश्वामित्र—बिना नर-बलि दिये देवता को प्रसन्न करना मेरा कार्य है!

शुनःशेप—मेरी रक्षा करो महर्षि, मैं निरपराध हूँ, पिता ने धन के लोभ से बलि के लिए बेच दिया है।

हरिश्चन्द्र—ऋषि, मेरे यज्ञ की क्रिया पूर्ण होनी चाहिए, जिससे मेरे सत्य की रक्षा हो सके, मेरा आग्रह है। वरुण को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि देना आवश्यक है।

अथास्य—अपने पुत्र की बलि दो तभी वरुण प्रसन्न होंगे।

विश्वामित्र—तुम यज्ञ प्रारम्भ करो अथास्य, मैं वरुण को मन्त्रों द्वारा बुलाऊँगा, वे नर-बलि नहीं ले सकते।

हरिश्चन्द्र—शुनःशेप को यज्ञ-स्थूण से बाँध दो, यदि देवता चाहेंगे तो उसकी बलि दी जायगी। आहः घोर कष्ट है।

अथास्य—मैं शुनःशेप को स्थूण से बाँधने का विरोध करता हूं, मैं यज्ञ नहीं कराऊँगा, यह आवश्यक है।

विश्वामित्र—(क्रोध से) तुम हट जाओ मैं स्वयं यज्ञ कराऊँगा, मैं देवता को बलि के बिना प्रसन्न करूंगा, नर-बलि नहीं दूंगा।

अथास्य—यज्ञ अपूर्ण होगा, देवता अप्रसन्न होंगे, और तुम्हारे ऊपर बज्रदण्ड गिरेगा हरिश्चन्द्र! हम जाते हैं, चलो अंगिरस।

विश्वामित्र—मैं स्वयं यज्ञ कराऊंगा, पर मैं अवैदिक अमानुषिक यज्ञ नहीं होने दूंगा, मैं इस यज्ञ का पुरोहित हूँ।

हरिश्चन्द्र—मैं वरुण को अवश्य ब्राह्मण की बलि दूंगा, कोई शुनः-शेप को स्थूण से बाँध दो रे!

ब्राह्मण—हम लोग किसी नर को स्थूण से नहीं बाँध सकते, यह अनार्य-कर्म है।

अजीगर्त—(सहसा प्रवेश करके) यदि मुझे सौ गायें और दो, तो इसे स्थूण से बाँध दूं।

[**कोलाहल**]

हरिश्चन्द्र—मैं सौ गायें और दूगा, तुम अपने पुत्र को स्थूण से बाँध दो।

[**सब लोग नर-पशु और नीच कहकर अजीगर्त को धिक्कारते हैं**]

एक व्यक्ति—पुत्र-घातक, तुम्हें नरक में भी स्थान न मिलेगा।

ब्राह्मण—पापी, नर-मांस-भक्षक! ब्राह्मण-द्रोही! अनार्य!

हरिश्चन्द्र—बाँधो अजीगर्त, मैं सौ गायें दूंगा, बांध दो।

अजीगर्त—(विश्वामित्र की ओर देखकर) मैं पुत्र-घातक नहीं हूँ, यह मेरा······

हरिश्चन्द्र—बाँधो अजीगर्त, यज्ञ में विलंब हो रहा है, मेरे प्राण कष्ट में घुल रहे हैं, आः कितना कष्ट है।

शुनःशेप—विश्वामित्र, तुमने मेरी रक्षा का वचन दिया था।

अजीगर्त—(हँसकर) अवश्य दिया होगा शुनःशेप, क्योंकि,···विश्वामित्र क्या कहते हो, बोलो···सौ गायें मुझे देने की प्रतिज्ञा करते हो।

विश्वामित्र—(चुप)

अजीगर्त—बोलो विश्वामित्र, अभी समय है, सौ गायें अधिक नहीं हैं, केवल सौ, अन्यथा तुम्हारा······

विश्वामित्र—(चुप)

शुनःशेप—एक हरिश्चन्द्र है। जो अपने पुत्र की रक्षा के लिए दूसरे के पुत्र की बलि देने को उद्यत है।

अजीगर्त—शुनःशेप, दूसरा भी पिता है जो अनार्य अमानुषिक कहकर पुत्र की रक्षा करना चाहता है। बोलो विश्वामित्र?

हरिश्चन्द्र—महर्षि, यह अजीगर्त क्या कह रहा है? मेरी कुछ भी समझ में नहीं आया। अजीगर्त, शुनःशेप को स्थूण से बांधकर सौ गायें ले जाओ। गायें बाहर खड़ी हैं, देर मत करो।

अजीगर्त—मैं शुनःशेप को स्थूण से बांधे देता हूँ, मुझे सौ गायों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिए। शुनःशेप, चलो। (**अजीगर्त शुनःशेप को स्थूण से बाँधता है। शुनःशेप चिल्लाता है**) शुनःशेप, तुझ से अब भी मुझ में अधिक बल है, मैं आज्ञा होने पर तेरा वध भी कर सकता हूं।

शुनःशेप—हे पिता, मेरी रक्षा करो। (**अजीगर्त पकड़कर स्थूण से बांधता है**)

अजीगर्त—ले बँध गया, अब तू छूट नहीं सकता, जा बलि बनकर देवता को प्रसन्न कर, और स्वर्ग में जा। हरिश्चन्द्र मेरी गायें···

हरिश्चन्द्र—गायें बाहर खड़ी हैं, ले जा, जा।

[**विश्वामित्र मूक अभिभूत-से खड़े हैं, जैसे किसी ने उन्हें जकड़ दिया हो। जमदग्नि तथा अन्य लोग उनकी तरफ देख रहे हैं। ऋषि धीरे-धीरे चैतन्य लाभ करके उग्र से उग्रतर होते जारहे हैं।**]

हरिश्चन्द्र—महर्षि विश्वामित्र, यज्ञ कराइये। मैं कष्ट से पीड़ित हूँ। वरुणदेव को प्रसन्न कीजिये।

जमदग्नि—शुनःशेप को स्थूण से खोल दो, तभी यज्ञ होगा।

हरिश्चन्द्र—मेरा प्रयत्न विफल न कीजिये महर्षि ! मैं कष्ट के मारे मरा जा रहा हूँ।

विश्वामित्र—मैं बिना बलि दिये ही वरुण का आवाहन करूंगा। जमदग्नि, यज्ञ प्रारम्भ करो।

जमदग्नि—(**मंत्र पढ़कर चुपचाप**) स्वाहा।

विश्वामित्र—इमं मे वरुण श्रुधी हवनद्याच मृदमत्वामवस्यु राचके··· इति वरुणाय स्वाहा। वरुणदेव ! मैं विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र-यजमान के यज्ञ में आपका आवाहन करता हूँ ! आप आकर यज्ञ का भाग ग्रहण करें।

जमदग्नि—वरुणाय स्वाहा।

विश्वामित्र (**अपेक्षाकृत कठोर स्वर में**) हे वरुणदेव, मैं विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के यज्ञ में आपका आवाहन करता हूँ, आप आइये और यज्ञ-भाग लीजिये।

[सब ब्राह्मण यज्ञकर्ता बार-बार मन्त्र पढ़कर स्वाहा करते हैं। कई बार यह आवृत्ति होती है]

जमदग्नि—वरुणदेव प्रसन्न नहीं हो रहे हैं विश्वामित्र महर्षि !

[फिर यज्ञकर्ता लोग मन्त्र पढ़कर स्वाहा-स्वाहा करके वरुण का आवाहन कर रहे हैं]

विश्वामित्र—(और भी कठोर स्वर में) मैं विश्वामित्र पुरोहित वरुण-देव को इस यज्ञ में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करता हूँ। वे आयें, यज्ञ में भाग लेकर मेरे यजमान का कल्याण करें, उसे कष्ट से उन्मुक्त करें।

[सब ब्राह्मण फिर पूर्वोक्त मौन मंत्र पढ़कर स्वाहा-स्वाहा करते हैं। यह कार्य बार-बार किया जाता है।]

विश्वामित्र—वरुणदेव, क्या मेरा पौरोहित्य असत्य है ? क्या आप नर-बलि ही लेना चाहते हैं, यह अनार्य धर्म है, मैं आपको नर-बलि नहीं दूंगा, मैं विश्वामित्र गाधि का पुत्र, हरिश्चन्द्र का पुरोहित आपको इस यज्ञ में आने के लिए आवाहन करता हूँ। आप आइये और यज्ञ में भाग लेकर मेरे यजमान का कष्ट दूर कीजिये, वरुणदेव ! आइये।

[सब ब्राह्मण लोग फिर मन्त्र पढ़कर वरुणदेव का आवाहन करते हैं, स्वाहा-स्वाहा कहते हैं]

जमदग्नि—वरुणदेव अप्रसन्न हैं। महर्षे, उन्हें अपने तप-बल से बुलाना होगा।

विश्वामित्र—(क्रोध में भरकर) आप बोलते क्यों नहीं हैं ? आते क्यों नहीं हैं ? मैं कुशवंशोत्पन्न गाधि-पुत्र विश्वामित्र, इस यज्ञ के लिए आपको बुलाता हूँ। आपको आना होगा। आइये, आइये, आइये वरुण-देव आइये। ऊं वरुणाय स्वाहा। मन्त्र-पाठ करो, यज्ञकर्ताओ !

[ब्राह्मण लोग पूर्वोक्त मंत्र पढ़कर स्वाहा, स्वाहा, स्वाहा, स्वाहा करते रहते हैं। इसी समय देखते हैं, एक छाया आकाश से उतरती हुई दिखाई देती है, जो यज्ञ से दूर आकर स्थिर हो जाती है]

छाया—विश्वामित्र, आग्रह मत करो, मैं नर-बलि लूंगा। हरिश्चन्द्र

ने प्रतिज्ञा की है, उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने दो, तभी वह कष्ट से छूट सकता है।

शुनःशेप—मेरी रक्षा करो, महर्षे, मैं निरपराध हूँ।

हरिश्चन्द्र—मैं नर-बलि के लिए उद्यत हूं, शुनःशेप स्थूण से बाँध दिया गया है, देव प्रसन्न हों।

विश्वामित्र—मैं सतोगुणी देवता को नर-बलि देना अनार्य कर्म मानता हूँ। मैं आपको नर-बलि नहीं दूंगा, नहीं दूंगा।

छाया—तुम्हें नर-बलि देनी होगी।

विश्वामित्र—क्या यह शुनःशेप वरुणदेव की सन्तान नहीं है? क्या आप इसके पिता नहीं हैं, फिर कैसे एक पिता अपने पुत्र की बलि चाहता है।

छाया—यह मेरी इच्छा है, किन्तु हरिश्चन्द्र को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी।

हरिश्चन्द्र—मैं उद्यत हूँ देव, मेरा कष्ट दूर कीजिये।

विश्वामित्र—देवाधिदेव, पहिले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। क्या मैं असत्य कह रहा हूँ? क्या वैदिक विधान से यज्ञ कराकर मैंने अनौचित्य किया है? मुझे विश्वास है आप वरुण नहीं हैं, कोई प्रछन्न राक्षसी शक्ति है। क्या आप मेरे इस यज्ञ में नर-बलि चाहते हैं? बोलो, वरुणदेव, बोलो, उत्तर दो, यदि तुम वरुण भी हो तो भी मैं तुम्हें नर-बलि नहीं दूँगा, नहीं दूँगा। तुम वरुण नहीं हो, नहीं तुम वरुण नहीं हो, चले जाओ, नहीं मैं तुम्हें शाप देकर भस्म कर दूँगा।

जमदग्नि—(**अट्टहास करके**) यह वरुण नहीं हैं। यही कारण है वह छाया न जाने कहाँ लुप्त हो गई?

विश्वामित्र—(**और भी अधिक क्रोध में भरकर**) मैं वेदज्ञ तपस्वी कौशिक विश्वामित्र और अन्तरिक्ष तथा जल-देवता देवाधिदेव वरुणदेव का इस यज्ञ के लिए आवाहन करता हूं। वरुण आएं और मेरे द्वारा दी गई निरामिष यज्ञ-सामग्री को ग्रहण करें। मन्त्र बोलो जमदग्नि!

(**वरुणाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा**) मैं देख रहा हूं, मेरे आवाहन-मन्त्र व्यर्थ हो रहे हैं। क्या मुझे वरुणदेव को अपने तपोबल से बुलाना होगा। लाओ कुश, मैं तपोबल से वरुण को बुलाता हूं। (**तेज स्वर में**) मैं साम वंशी, कौशिक का प्रपौत्र, और कुशिक का पौत्र, तथा गाधि का पुत्र, विश्वामित्र अपने सम्पूर्ण तपोबल से...

वरुणदेव—(दूर से) ठहरो, ठहरो, विश्वामित्र ! मैं आ गया ! मैं आ गया। (**आकाशवाणी होती है**)

जमदग्नि—वरुणाय स्वाहा। आहा, वरुणदेव आ गये ! अग्नि की लपटें आकाश को छूने लगीं।

[**अग्नि प्रज्वलित हो उठती है**]

वरुणदेव—विश्वामित्र, मैं तुम्हारी दी गई बलि का सहर्ष ग्रहण करता हूँ।

विश्वामित्र—देव, विश्वामित्र आपको प्रणाम करता है।

वरुणदेव—शुनःशेप, तुम मुक्त हो। हरिश्चन्द्र, तुम निर्बल हो। विश्वामित्र, मैं तुम पर प्रसन्न हूं। नर-बलि अयुक्त कर्म है, मैं केवल तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। तुम वस्तुतः विश्वामित्र हो, मुझे नर-बलि नहीं चाहिए।

सब ब्राह्मण—जय हो वरुणदेव !

विश्वामित्र—महाराज, मेरे यजमान का रोग दूर होना चाहिए।

वरुणदेव—(क्रोध से) हरिश्चन्द्र स्वार्थी है ! अयोग्य है ! असत्य-वादी है !

हरिश्चन्द्र—ओहः मैं कष्ट से मरा जा रहा हूं। नाथ ! मेरी रक्षा करो ! रक्षा करो नाथ ! विश्वामित्र !

विश्वामित्र—इस यज्ञ द्वारा आपका आवाहन केवल उसकी रोग-मुक्ति के लिए था, वह नीरोग होना चाहिए। मैं आपसे प्रार्थना करता हूं, आप चुप हैं, बोलिये।

वरुणदेव—(चुप)

जमदग्नि—यह क्या अग्नि शान्त हो गई ?

विश्वामित्र—मैं कौशिक विश्वामित्र, अपने यजमान की वरुणदेव से रोग-मुक्ति की कामना करके फिर उनका आवाहन करता हूं, हरिश्चन्द्र नीरोग हो, वरुणदेव पुन: प्रगट होकर अपना भाग लें और मेरे यजमान को नीरोग करें। वरुणाय स्वाहा।

[**सब ब्राह्मण फिर मंत्र द्वारा स्वाहा-स्वाहा करते हैं**]

हरिश्चन्द्र—मैं नीरोग हो रहा हूँ विश्वामित्र! मेरा कष्ट दूर हो रहा है।

[**आकाशवाणी होती है—जिस विश्वामित्र के द्वारा हरिश्चन्द्र नीरोग हो रहा है, उसी के क्रोध से हरिश्चन्द्र की सत्य की परीक्षा और उसके पुत्र रोहित की मृत्यु होगी। विश्वामित्र, आग्रह मत करो।**]

अजीगर्त—(**सहसा प्रवेश करके**) चलो, शुन:शेप चलो। अब मैं तुम्हें और कहीं बेचकर धन पाऊँगा।

शुन:शेप—मैं नहीं जाऊँगा। तुम मेरे पिता नहीं हो।

अजीगर्त—मूर्ख, तुझे ज्ञात नहीं है मैं तेरा पिता हूं, मुझे तेरे शरीर पर पूर्ण अधिकार है।

शुन:शेप—मैं तम्हारे साथ नहीं जाऊँगा, पुत्र-घाती पिता! महर्षि ने मुझे प्राण-दान किया है, मैं उन्हीं की सेवा करूँगा, वे ही मेरे पिता हैं।

अजीगर्त—दस्युनी उग्रा के पुत्र, नराधम··· (**चला जाता है**)

इसी समय सम्पूर्ण सभा में—

पहला—क्या कहा ?

दूसरा—दस्युनी उग्रा के पुत्र !

तीसरा—शंबर की कन्या का पुत्र !

चौथा—विश्वरथ का पुत्र !

पाँचवाँ—विश्वामित्र का पुत्र !

छठा—यह अजीगर्त का पुत्र नहीं है !

सातवाँ—यह ब्राह्मण नहीं है !

पहला—राक्षस !

दूसरा—राक्षस !

तीसरा—अनार्य !

[इस तरह की आवाजें उठती हैं]

विश्वामित्र—अजीगर्त कहता है, अपने मृत पुत्र के बदले में लोपामुद्रा के कहने से इसने उग्रा के पुत्र को उठा लिया, तब उग्रा ने अपने पुत्र को मरा कहकर विलाप किया। यदि ऐसा है तो यह मेरा पुत्र है। मैं आर्यों-अनार्यों के मिलनस्वरूप इसको पुनः स्वीकार करता हूँ।

हरिश्चन्द्र—मैं आर्यों के इस प्रकार मिलने के पक्ष में नहीं हूँ। पुरोहित वसिष्ठ ठीक कह रहे थे। मैं विश्वामित्र का पुरोहित-पद से त्याग करता हूँ।

[कोलाहल होता है—विश्वामित्र अनार्य हैं, अनार्य हैं, त्याज्य हैं, इनका त्याग करो, सामाजिक बहिष्कार करो, त्याग दो, विश्वामित्र, तुम पापी हो, अनार्य हो, अवैदिक हो, निन्दनीय हो।]

विश्वामित्र—(आकाश की तरफ देखते रहते हैं)

[सहसा लोपामुद्रा का प्रवेश]

[कोलाहल—देवी लोपामुद्रा, देवी लोपामुद्रा, अगस्त्य की पत्नी, विश्वामित्र का सामाजिक बहिष्कार करो, कोलाहल बढ़ता जाता है, अरे भगवती लोपामुद्रा आप !]

लोपामुद्रा—सभ्य जनो, विश्वरथ ही विश्वामित्र हैं, इन्होंने तप करके वेदों का दर्शन किया है, यज्ञ-विधान बनाये हैं, हमारे समाज की अनार्य रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करके उन्हें प्राणवान् बनाया है। हम लोग उन्हें अपना नेता मानते हैं और आर्य-अनार्यों को मिलाकर स्नेह बढ़ाने में जो प्रयत्न उन्होंने किये हैं, उनसे आज सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में आर्य-अनार्य दोनों के प्रेमभाजन हो उठे हैं। देवता उन पर प्रसन्न हैं, मैं विश्वामित्र का सहज अभिनन्दन करती हूँ। विश्वामित्र, तुम महान् हो !

विश्वामित्र—मैंने जो उद्देश्य स्थिर किया है। मैं उस पर आजीवन चलता रहूँगा, कोई शक्ति मुझे सत्य-पथ से विचलित नहीं कर सकती। मैं सत्यस्वरूप ईश्वर में विश्वास करता हूँ।

लोपामुद्रा—तुम धन्य हो !

हरिश्चन्द्र—विश्वामित्र, ओह मेरे साथ विश्वासघात किया !

विश्वामित्र—राजन्, मैंने नर-बलि न देकर भी अपने बल से वरुण को प्रसन्न किया और तुम्हें रोग-मुक्त किया। तुमने अज्ञानवश जिस अवैदिक पद्धति का आचरण किया उसमें मैंने संशोधन करके उसे वैदिक बनाया।

जमदग्नि—विश्वामित्र, आप महान् हैं !

विश्वामित्र—दस्युनी उग्रा के पुत्र, मैं सात्विक वृत्ति मंत्र-द्रष्टा होने की इच्छा के कारण शुनःशेप को मैं ब्राह्मण मानता हूँ और अजीगर्त को अधर्माचरण के कारण शूद्र, नरभक्षी राक्षस। मैं जन्म से न किसी को ब्राह्मण मानता हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र। कर्म से ही वह ब्राह्मण एवं शूद्र बनते हैं। आचरण ही महान् है, अनाचरण ही पतन का कारण।

लोपामुद्रा—विश्वामित्र, तम धन्य हो ! तुम्हीं ने हमारे समाज में नवजीवन दिया है।

विश्वामित्र—प्रभो, मुझ में बल दो, मैं संसार को एक समान महान् मानता हूँ—

"हतेहग्वं हमा मित्रस्य मा चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्याहं चक्षुसा समीक्षामहे"

चलो देवि, जमदग्नि, शुनःशेप, अभी हमारा कार्य शेष है।

[विश्वामित्र के पीछे जमदग्नि, लोपामुद्रा, शुनःशेप, इसी उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते चले जाते हैं। दूर तक आवाज आती रहती है।]

विश्वामित्र की जय हो !

विश्वामित्र की जय हो !

६

शशिलेखा

(मध्य युग का एक चित्र)

पात्र-परिचय

विनोदवर्धन

भिक्षु कौण्डिन्यायन

प्रद्युम्न सेनापति

त्रिमूर्ति

शशिलेखा

मंजुला

दासी, प्रहरी आदि

[प्राचीन काल में सुन्दर प्रासाद का एक कक्ष]

[एक रमणी जिसकी वयस लगभग बाईस वर्ष, गौर वर्ण, सौन्दर्य की प्रतिमा, विशाल दर्पण के सम्मुख श्रृंगार-प्रसाधन में लीन। रमणी शशिलेखा पट्टिका पर बैठी है। सम्मुख दर्पण में उसकी प्रतिकृति लक्षित हो रही है। एक दासी उसके श्रृंगार के लिए कपोलों पर लोध्ररेणु बुरकती है, दूसरी मस्तक तथा मुख पर चित्रक पात्र से बिन्दु-रेखाएँ एवं चित्र निर्माण कर रही है। पहली दासी लाक्षारक हो धीरे-धीरे पंखा करके सुखाने लगी। इसी समय एक और दासी प्रसाधन-पेटिका से रत्नमाला निकालकर कण्ठ से रत्नहार, कमर में स्वर्ण-करधनी, पैरों में जड़ाऊ पैजनी, नूपुर कुण्डल आदि पहनाती है। उसी कक्ष में एक और दासी वीणा लेकर स्वर-संधान कर रही है। रमणी शशिलेखा तन्मय होकर स्वर के उतार-चढ़ाव पर शरीर को हिलाती है, उसके पैरों की

गति बतलाती है कि शशिलेखा वीणा-वादन की गति के अनुसार शरीर-भंगिमा दिखा रही है, किन्तु शृंगार-प्रसाधन एवं अपने अनिन्द्य सौन्दर्य के प्रति, जिसकी पूर्ण छाया दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रही है उससे भी, बेखबर नहीं है। यथानियम शृंगार के बाद एक दासी स्वर्ण-पात्र में मद लाकर शशिलेखा को देती है। शशिलेखा मद-पान करती है और उसकी तिक्तता के अनुभव के साथ ही उसके शरीर को लालिमा एवं नेत्रों में मद-संचार होने लगता है। वीणा बराबर बज रही है। प्रसाधन समाप्त होता है। शशिलेखा बड़े उपधान का सहारा लेकर वीणा-वादन सुनती रहती है। एक दासी पीछे खड़ी होकर पंखा झलती है। (समय—सायंकाल) कक्ष में बहुत प्रकार के चित्र हैं जिनमें कुछ नग्न मूर्तियाँ भी हैं, कुछ तैल-चित्र भी भित्तियों पर लटक रहे हैं। छोटे-छोटे काष्ठफलकों पर पुष्प स्तबक रखे हैं, कस्तूरी सुवासित अगरुगन्ध से सारा वातावरण प्रफुल्लित एवं मादक हो उठा है। कक्ष काफी विशाल, विविध प्रकार के आसनों से युक्त तथा सुरुचि-सम्पन्न है। कक्ष को देखने से ज्ञात होता है यहाँ कई प्रकार के उच्च मनुष्यों का आवागमन होता रहता है। शशिलेखा नृत्य-संगीत-कला में निपुण महाराज विनोदवर्धन के दरबार की गायिका है। आज उसे महाराज के निमंत्रण पर रात को नृत्य के लिए जाना है, इसीलिए यह सुन्दरतर शृंगार का आयोजन हो रहा है।]

शशिलेखा—(मुख उठाकर एक और मद-पात्र लाने का आदेश देती है, तथा तल्लीन होकर दर्पण देखने लगती है) मंजुले !

मंजुला—(वीणा-वादन रोककर) आज्ञा देवी !

शशिलेखा—आज मुझे राज-दरबार में नृत्य के लिए जाना है न ?

मंजुला—(वीणा रखकर पास आती हुई) क्या इसमें भी सन्देह है ?

शशिलेखा—किन्तु उत्साह नहीं हो रहा है, मंजुले !

मंजुला—राजाज्ञा है न, महाराज का अनुरोध···

[इसी समय एक दासी मद-पात्र लाकर देती है। शशिलेखा पीकर]

शशिलेखा—और मेरा अनुरोध क्या है, प्राणों का अनुरोध क्या है, वह भिक्षु…?

मंजुला—पत्थर से जल नहीं निकलता देवि !

शशिलेखा—तू भूलती है, नदी की धार को बदलना होगा, वह भिक्षु मुझे मिलना चाहिए, मैं उसे नहीं त्याग सकती।

मंजुला—यदि ऐसा हो सकता…

शशिलेखा—ऐसा ही होगा। मेरे प्रयोग में कमी थी, मैंने उसे वैभव से लुभाना चाहा, प्रेम से नहीं, सौन्दर्य से नहीं, याचना से नहीं।

मंजुला—क्या आपको विश्वास है ?

शशिलेखा—हाँ मंजुला, मैं विश्वास करती हूँ मैं उसको पा सकूँगी, वह मेरा है।

मंजुला—किन्तु वह तो भिक्षु है, क्या राज-दरबार की नर्तकी को एक साधारण, वैभव-हीन भिक्षु से प्रेम-याचना करनी उचित है ?

शशिलेखा—प्रेम भिक्षु और राजा नहीं देखता। रूप का बाण त्रिभुवन में सबसे अधिक विषाक्त होता है, क्या तू नहीं जानती ? आज मैं उसी के अप्रतिम सौन्दर्य की उपासिका हूँ।

मंजुला—क्या वह राज-दरबार के सभी पुरुषों से सुन्दर है ?

शशिलेखा—हाँ मंजुजा, तू नहीं जानती। उस दिन उसका मुख राज-सभा में सबसे अधिक दीप्तिमान, सबसे अधिक निष्कपट, सबसे अधिक भोला और सबसे अधिक उद्दाम यौवन का पात्र बना हुआ था।

मंजुला—आश्चर्य है ! महाराज के सामने भी…

शशिलेखा—(**पर्यंक से उतरकर पुष्प-गुच्छ उठा लेती है, कभी उसे सूंघती है, कभी उसके रंग से दर्पण के सामने अपने रंग की तुलना करती है**) सारी सभा उसके सामने ऐसे लग रही थी जैसे यौवन के सामने प्रौढ़त्व, महाराज स्वयं उससे अभिभूत थे। सिंहासन पर बैठे हुए भी वे ऐसे लग रहे थे जैसे उसकी आज्ञा पाकर अपने को धन्य समझने के लिए उत्सुक हों।

मंजुला—अवश्य वे कोई महात्मा होंगे और महात्माओं को वश में करना उचित नहीं है देवी !

शशिलेखा—(**अपनी धुन में**) मैंने देखा, उनके प्रवेश करते ही महाराज सिंहासन से उठकर उनको लेने के लिए आगे बढ़े और अपने पास ही उन्हें स्थान दिया। मानों राजसभा में एक भूकम्प आ गया हो। मेरे पैर रुक गये, नृत्य बन्द हो गया, संगीत की ध्वनि मूक हो गई, उस मोहक मुख ने मेरी तरफ एक तीव्र किन्तु मादक दृष्टि डाली, मानों कामदेव ने काषाय-वेश धारण कर लिया हो।

मंजुला—इतना रूप तो साधारण पुरुषों में सम्भव नहीं है, अवश्य वे कोई असाधारण होंगे। कोई राजकुमार होंगे।

शशिलेखा—(**उसी धुन में**) उन्होंने सम्पूर्ण सभा तथा स्वयं महारानी पर प्रथम दृष्टि डाली। फिर मुझे वे बहुत देर तक देखते रहे, मेरी आँखें संकोच और लज्जा से झुक गईं। मैंने देखा, महारानी तथा उनकी दासियाँ कभी-कभी ऊँची दृष्टि उठाकर उस भिक्षु की रूप-सुधा का पान कर रही थीं। और स्वयं···(**रुक जाती है**) मैं नहीं जान सकी, कि मुझे क्या होने लगा, मैं बरबस उसे देखती रही।

मंजुला—तो क्या महाराजा ने यह सब नहीं देखा ? राजसभा के लोगों और उस तेजस्वी सेनापति ने कुछ नहीं कहा ?

शशिलेखा—(**पुष्प-गुच्छ से एक फूल निकालकर उसे सूंघकर हृदय से लगाती हुई**) चम्पा के समान गौर वर्ण, स्फटिक की तरह चमकता हुआ मस्तक, सुरा के सागर-सी मादक, नीलाकाश में तारक-सी चमकती विशाल आँखें, वह क्या भूलने वाली आकृति है। पतली नासिका, वक्रिम भ्रूभंगी, रक्तिम अधर और उन सब के ऊपर गम्भीर तत्वदर्शिनी मुखाकृति···(**घूमकर मंजुला के सामने होकर**) नहीं मैं उनके बिना नहीं रह सकती, मुझे उन्हें पाना होगा। शशिलेखा के जीवन में अप्राप्य कभी नहीं आया।

मंजुला—किन्तु···

शशिलेखा—किन्तु परन्तु कुछ भी नहीं! **(तेजी से)** मेरा यौवन, मेरी लालसाएँ व्यर्थ होना नहीं जानतीं। **(व्यग्रता से)** मेरे रूप ने हारना नहीं सीखा। मेरा सौन्दर्य परास्त होने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है मंजुले!

मंजुला—किन्तु यह क्या ठीक है?

शशिलेखा—हाँ, उसे ठीक होना होगा। मैं जाऊँगी, उनके पास जाऊँगी, मैं मेनका की तरह उस विश्वामित्र का तप भंग करूँगी।

मंजुला—महाराज······

शशिलेखा—मुझे कोई नहीं रोक सकता, महाराज भी नहीं। मैं पीछे लौटना नहीं जानती, मैं अभी जाऊँगी। मेरा रथ तैयार हो। जाओ परिचारिका से कहो। **(टहलती है)**

[एक परिचारिका का प्रवेश]

परिचारिका—देवि क्रोष्टिपुत्र व सुजीव द्वार पर दर्शन की प्रतीक्षा में प्रवेश की आज्ञा चाहते हैं?

शशिलेखा—**(तत्क्षण)** जा कह दे, अभी मैं किसी से नहीं मिल सकती। मैं स्वस्थ नहीं हूँ।

परिचारिका—**(जाती है)** जो आज्ञा!

शशिलेखा—देखा तूने मंजुला, यह वसुजीव मेरे सौन्दर्य की भूख से संवर्ण वैभव मेरे पैरों पर लुटा देना चाहता।

परिचारिका—**(लौटकर)** देवि, वे आपके अस्वास्थ्य का समाचार पाकर नगर के प्रसिद्ध वैद्य को बुलाने की आज्ञा चाहते हैं।

शशिलेखा—नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है। जा लौटा दे उसे।

मंजुला—वह महाराज का प्रिय भाजन है।

शशिलेखा—मैं आज नृत्य करने नहीं जाऊँगी, राजसभा मेरे योग्य नहीं है। मैं भिक्षुणी बनूँगी, मंजुले!

[परिचारिका लौटती है]

मंजुला—यदि आज्ञा हो तो वसुजीव को दूसरे कक्ष में बिठाऊँ। आपका मन स्वस्थ नहीं है। विश्राम करें तब तक।

शशिलेखा—आज मेरे कक्ष में कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता। स्वयं महाराज भी नहीं।

[मंजुला सुन्न-सी रहकर]

मंजुला—हम उनकी प्रजा हैं देवी !

शशिलेखा—वे मेरे रूप के भिखारी हैं, मेरे संकेतों के दास हैं, किन्तु मैं उस भिक्षु को पाना चाहती हूँ जिसने संसार को छिन्न-भिन्न कर डाला है, वही मेरे यौवन का पात्र है। **(ताली बजाकर)** रथ तैयार हो। **(परिचारिका आज्ञा पाकर फिर चली जाती है। शशिलेखा दर्पण के सामने खड़ी होकर अपने रूप पर फूली न समाती हुई बालों को ठीक करती है। कंचुक सँभालती है)** भिक्षुक, मैं हृदय का आसन तुम्हें दिलाने को आ रही हूँ। यौवन की उद्दाम सरिता में तुम्हें लीन स्नान करा देने को प्राण समर्पण कर रही हूं। मुझे निराश मत करना, हाँ ! नारी सौन्दर्य का प्रतीक है, तुमने व्यर्थ अब तक अध्यात्म निर्जीव प्रेम को पाने में जीवन जैसे परम अमूल्य रत्न को व्यर्थ किया है। मैं तुम्हारे रूप की आत्मा की भिखारिन हूं, भिक्षुक, लो मेरे यौवन का दान लो। मेरे सौन्दर्य का पान करो।

परिचारिका—रथ तैयार है देवि !

मंजुला—क्या मैं भी आपके साथ चलूँ ?

शशिलेखा—नहीं, मैं अकेली जाऊँगी। वह मेरे प्रेम की समाधि में मग्न होगा। तपोवन के पावन पुष्पों पर मैं जाकर सौन्दर्य की सरिता उँड़ेल दूँगी। मैं अकेली जाऊँगी तू यहीं रह।

मंजुला—सुना है वे बहुत निर्जन स्थान में रहते हैं, आपका अकेले उस स्थान पर जाना···

शशिलेखा—वे मेरे हृदय में हैं, मेरे साथ हैं, उनकी प्रतिभा मेरा मार्ग-दर्शन करेगी मंजुले ! मैं जाती हूँ।

मंजुला—उस व्याघ्र-पूरित हिंस्र जन्तु वाले वन में अकेली···

शशिलेखा—प्रेम यह सब कुछ भी नहीं देखता, मैं जानती हूं। वे तपस्वी

हैं, निरीह हैं किन्तु वे मेरे प्रेम को नहीं ठुकरा सकते। मैंने अपने प्रेम को ठुकरा देने वाला आज तक कोई व्यक्ति नहीं देखा। यद्यपि मैंने अभी तक किसी से प्रेम नहीं किया है, फिर भी मेरे रूप की शक्ति, उसकी मोहकता अक्षुण्ण है, अजेय है, मैं जाती हूं। अपने हृदय की भेंट लेकर मैं जाऊँगी। मैं रुक नहीं सकती, जैसे वह तपस्वी मुझे बुला रहा है, मैं नहीं रुक सकती मंजुला ! **(एक दम बाहर चली जाती है। मंजुला उसके मार्ग की ओर मुँह करके देखती रहती है और तब तक देखती रहती है जब तक उसके पैरों की ध्वनि सुनाई देती है)**

मंजुला—देवी शशिलेखा का यह रूप तो कभी देखा न था। मालूम होता था जैसे हृदय की गति तोड़ देने वाला एक प्रकंपन उनके रोम-रोम से उठ रहा है, वाणी में दृढ़ता के पर्वत स्वर भरते जा रहे हैं, उसका निश्चय जैसे आने वाले सभी विघ्नों को पीसकर चूर-चूर कर डालेगा। उनके मुख पर ओज, जागृति, उत्साह की एक अमिट आभा ज्वलंत हो उठी है किन्त...किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता जैसे मुझे इसमें भविष्य की भयंकरता-क्रूरता का आभास मिल रहा है। सुना है, महाराज इन पर इतने मुग्ध हैं कि यदि शशिलेखा चाहे तो राज्य भी समर्पित करने को तैयार हैं। किन्तु यह नारी उनसे विमुख है, कहती है, प्रेम का सम्बन्ध हृदय से है, वाह्याडम्बर से नहीं। मुझे क्या, अब तो देवी शशिलेखा जो करेगी वही देखना होगा। वही चाहना होगा। (**बैठ जाती है, मृदंग-वादक त्रिमूर्ति का प्रवेश**)

त्रिमूर्ति—मंजुले, क्या देवी नहीं है ?

मंजुला—नहीं, कहीं बाहर गई है। कहो क्या समाचार है त्रिमूर्ति?

त्रिमूर्ति—समाचार अच्छे नहीं हैं। गायिका कुन्तलकेशा ने देवी शशिदेवी के विरुद्ध महाराज के कान भरे हैं, उसने कहा है कि वह **(देवी)** कौण्डिन्यायन पर मुग्ध है। वह उसी के साथ भाग जाना चाहती है।

मंजुला—त्रिमूर्ति, क्या बक रहे हो ?

त्रिमूर्ति—सेनापति को मैं कहां पा सकता हूँ मंजुला ! नहीं, वहां सैनिक खड्ग लिये सदा घूमते हैं। मैं ठहरा साधारण मृदंग-वादक।

मंजुला—यह बहुत अशुभ समाचार है त्रिमूर्ति ! मुझे वीर प्रद्युम्न से इसी समय मिलना होगा, म तुम्हारे साथ चलूँगी।

त्रिमूर्ति—किन्तु मैं तुम्हें कहां ले जाऊँ मंजुले, मैं सरलवादक किसी ने खड्ग ताना और मैं···अच्छा, तुम तैयार हो। मैं अभी आया। **(उठता है। इसी समय परिचारिका प्रवेश करती है और सेनापति के आने की सूचना देती है। त्रिमूर्ति हट जाता है। परिचारिका सेनापति को लेकर प्रवेश करती है। मंजुला खड़ी होकर सेनापति का अभिवादन करती है।)**

सेनापति—बैठो मंजुले **(इधर-उधर देखकर)** कक्ष सूना क्यों है ? क्या शशिलेखा नहीं है ?

मंजुला—आप बैठिये तो, क्या देवी शशिलेखा के अभाव में आपका आगमन यहाँ नहीं हो सकता है ? **(उसके पास बैठ जाती है, ताली बजा कर)** मद-पात्र ला दासी !

सेनापति—मंजुले, क्या तुम बता सकती हो शशिलेखा कहाँ है ?

मंजुला—देवी का नृत्य तो रात को है न ?

सेनापति—किन्तु मुझे अभी उनसे मिलना होगा। मैं जानता हूं। **(दासी मद-पात्र से स्वर्ण-पात्र में मद उंडेलकर देती है। सेनापति पीकर)** मैं जानता हूँ **(ओठ चाटकर)** एक और दो मंजुला, तुम्हारा यह अंगूरासव, **(मंजुला की ओर देखकर)** आज तुम कितनी सुन्दर लग रही हो मंजुले !

मंजुला—**(सेनापति की आँखों में आँखें डालकर मुसकराती हुई)** क्या सचमुच यह दासी···**(सेनापति के उत्तरीय का छोर पकड़कर)** आपको कुछ सुनाऊँ ?

सेनापति—**(एक और मद-पात्र पीकर)** तुम जानती हो महाराज शशिलेखा पर मुग्ध हैं।

मंजुला—जी, महाराज की कृपा है।

सेनापति—किन्त आज महाराज बहुत बेचैन हैं। शशिलेखा, सुना

है, महाराज के गुरु भदन्त कौण्डिन्यायन पर आसक्त हो उठी है, यही जानने के लिए मुझे महाराज ने भेजा है।

मंजुला—यह झूठ है।

सेनापति—तो सत्य क्या है ?

मंजुला—देवी शशिलेखा उस भिक्षु के प्रति आसक्त नहीं है, बस इतना ही।

सेनापति—(उछलकर) अर्थात् ?

मंजुला—यह आप जानें।

सेनापति—तो कुन्तलकेशा का आरोप असत्य है ?

मंजुला—यह सब आपका काम है।

सेनापति—नहीं मंजुले, ठीक बताओ महाराज बहुत दुखी हैं, उनकी दृष्टि में दो ही व्यक्तियों का आकर्षण है एक देवी शशिलेखा और दूसरे कौण्डिन्यायन। पहली सौन्दर्य की और दूसरी शान्ति की आधिष्ठात्री। दोनों स्वर्गों के दो द्वार हैं, दोनों महान्, दोनों जीवनमय।

मंजुला—तो महाराज शशिलेखा के प्रति आसक्त हैं ?

सेनापति—वे उसे छोड़ नहीं सकते। उन्हें दिखाई देता है शशिलेखा को छोड़ देने पर वे कदाचित् जीवित नहीं रह सकेंगे। नर्तकी शशिलेखा उनकी दृष्टि में उस मद के समान है जो उन्हें जीवन में स्फूर्ति देती है, गति देती है। उसके अभाव में वीतराग होकर वे संसार त्याग कर सकते हैं।

मंजुला—आप कैसे जानते हैं ?

सेनापति—इस सीधी-सी बात को जानने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। अन्तःपुर में महाराज के इस आचरण के प्रति घोर दुःख व्याप्त है। और सुनना चाहती हो ?

मंजुला—यदि मुझसे कहने योग्य हो तो कहिये, मैं सुनूँगी।

सेनापति—शुभ संवाद है, महाराज शशिलेखा से विवाह करना चाहते हैं। वह नर्तकी होते हुए भी···

मंजुला—(प्रसन्नता दबाकर) शशिलेखा भी निष्पाप है सेनापति ! **(एकदम उनकी गोद में गिर पड़ती है ।)**

सेनापति—हाँ प्रिये, **(सेनापति मंजुला के मस्तक पर हाथ फेरते हैं)** मैं जाता हूं । शशिलेखा को सूचना देना, कौण्डिन्यायन की अपेक्षा इधर का स्वर्ग महान् है । **(जाता है ।)**

[अस्त-व्यस्त वेश-भूषा में शशिलेखा प्रवेश करती है । उसके नेत्रों से अग्नि-ज्वाला उठ रही है, शरीर काँप रहा है । दासियाँ उसे देखकर छिप जाती हैं, केवल मंजुला कुछ दूरी पर खड़ी शशिलेखा की ओर देखती रहती है निःसाहस ।]

शशिलेखा—(अपने ही ध्यान में, थोड़ी देर चुप रहने के बाद । इस समय साँस तेजी से चल रही है) उसने मेरा तिरस्कार किया ! मेरे यौवन का तिरस्कार किया ! **(धीरे-धीरे स्वर चढ़ता जाता है ।)** मेरे सौन्दर्य का तिरस्कार किया, मेरे उद्दाम आत्मसमर्पण के नीचे सोती हुई अभिलाषाओं को ठुकराकर मुझे निकाल दिया । मुझे नहीं मालूम था, इस शान्त मुद्रा में जीवन के प्रति, सौन्दर्य की निष्ठा के प्रति इतनी घृणा छिपी है । घोर घृणा, मैंने आज तक जो चाहा वह मुझे मिला । जैसे चाहा वैसे उसे फेंक दिया, मसल दिया, किन्तु इस व्यक्ति ने सौन्दर्य की चाँदनी में खिलती हुई अमृतकल्हारिणी की सुवासित मकरन्द-माला की ओर एक बार दृष्टि भरकर देखा भी नहीं ? जैसे मैं तुच्छ, नगण्य, साधारण स्त्री होऊँ । मैंने कहा, देव ! मैं तुम्हारे कृपा-कटाक्ष की भूख लेकर तुम्हारे पास आई हूं । तुम कामदेव हो, मैं रति बनकर तुम्हारी मृदु मुसकान का शृंगार करूँगी, मुझे तृप्ति दो, संसार की अप्रतिम सुन्दरी तुम से प्रणय की भिक्षा लेने आई है । प्राण ! सौन्दर्य तुम्हारे चरणों में लोट रहा है, इसे स्वीकार करो । उसने शान्त मुद्रा में देखा और गम्भीर वाणी में कहा—“मैं विरक्त हूँ देवि, आत्म-तृप्त । तुम लौट जाओ, तुम अग्नि हो जिसमें सारा संसार जल रहा है ।” मैंने उत्तर दिया—“मद निर्मद नहीं किया जा सकता ।” उसने कहा—“तम मद हो, और इसके साथ ही उसने एक

शिष्य को संकेत किया, उसने मुझे आश्रम से बाहर निकाल दिया।

मंजुला—वह सुन्दर होते हुए भी सौन्दर्य की अनुभूति से हीन है देवि, पाषाण !

शशिलेखा—(**मुड़कर**) हां, वह पाषाण है, तूने ठीक कहा, वह पाषाण है किन्तु उसे इसका बदला भोगना होगा।

मंजुला—वह क्षमा का पात्र है।

शशिलेखा—क्षमा ! मैं उसे क्षमा करूँगी ? नहीं, उसकी क्षमा मृत्यु है, मृत्यु !

मंजुला—देवि !

शशिलेखा—मैं देवि नहीं हूं। आज मेरे हृदय में प्रतिहिंसा की आग भड़क रही है। मेरा रोम-रोम तिरस्कार और अपमान से जल रहा है मंजुला !

मंजुला—सेनापति प्रद्युम्न पधारे थे।

शशिलेखा—(**अनसुनी करके मन-ही-मन**) ओः मैंने कितनी बड़ी भूल की। किन्तु मेरा हृदय व्याकुल है, उसकी छाया-मूर्ति ने, जैसे उसकी वीतरागता के तिरस्कार ने मुझ में और उसमें व्यवधान की खाई उत्पन्न कर दी है। नहीं, वह अब मेरा नहीं है, मुझे उसे भूल जाना होगा···क्या भूल सकूँगी ? (**चुप रहकर**) तिरस्कार किया उसने मेरा ! (**भूमि पर गिर कर फफक-फफक कर रोने लगती है। मंजुला उसके पास आकर बैठ जाती है और सिर पर हाथ फेरने लगती है। बाहर रथ के घर्घर का स्वर सुनाई पड़ता है। शशिलेखा सचेत होकर सुनती है।**) महाराज का रथ !

मंजुला—महाराज पधार रहे हैं, देवि !

शशिलेखा—(**उठकर**) महाराज ! महाराज ! मुझे प्रसाधन-गृह का मार्ग दिखा···।

मंजुला—शीघ्रता कीजिये। (**दोनों जाती हैं, इसी समय अकेले महाराज आते हैं**)

महाराज—शशिलेखा नहीं है ! (**चारों तरफ घूमकर बैठ जाते हैं**)

पहली बार आया हूं।

दासी—अपराध क्षमा हो, देवी अभी आ रही हैं।

[सामन्त विनोदवर्धन छोटे-से राज्य का स्वामी है। यथानाम वह विनोदप्रिय एवं विलासी है, फिर भी उसमें बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग है। भदन्त कौण्डिन्यायन की शिक्षा ने उसे किंचित् धार्मिक बना दिया है। उसी के आग्रह पर भदन्त ने नगर के बाहर आराम में निवास करना स्वीकार किया है। विनोदवर्धन की आयु लगभग पैंतीस वर्ष, दुहरा शरीर, कांतिमान मुख-मण्डल, राजकीय आभूषणों से युक्त, सुदृढ़ शरीर, श्याम-वर्ण, बड़ी-बड़ी आँखें मद से भरी, तीक्ष्ण नासिका, ताम्बूल-युक्त मुख तथा देखने में सुन्दर है। शशिलेखा प्रवेश करके मृदु मन्द मुस्कान से विनोदवर्धन का स्वागत करती है।]

शशिलेखा—स्वागत है देव !

विनोद—आओ, शशिलेखा आओ। मैंने सुना है तुम्हारा शरीर स्वस्थ नहीं है, इसीलिए मैं स्वयं तुम्हें देखने चला आया।

शशिलेखा—यह दासी कृतार्थ हुई महाराज ! दासी, मद-पात्र ला।

विनोद—तुम कितनी सुन्दर हो शशिलेखा और आज तो तुम्हारी छवि और भी मोहक हो उठी है।

शशिलेखा—यह आपकी गुण-ग्राहकता है देव ! अन्यथा दासी में तो······।

विनोद—नहीं शशिलेखा, तुम सचमुच त्रैलोक्य-सुन्दरी हो !

शशिलेखा—दासी स्वयं उपस्थित हो जाती···।

विनोद—मेरे आने का विशेष प्रयोजन है।

शशिलेखा—यदि मैं···।

विनोद—**(एकान्त देखकर)** तुम्हें मालूम है, राज्य का उत्तराधिकारी कोई नहीं है।

शशिलेखा—महाराज दीर्घायु हों !

विनोद—फिर भी एक उत्तराधिकारी तो चाहिए ही।

शशिलेखा—निःसन्देह।

विनोद—ज्योतिषी कहते हैं इन रानियों से सन्तान नहीं होगी।

शशिलेखा—(**दुःख प्रकट करती हुई चुप रहती है**) तो और विवाह···।

विनोद—तुमने ठीक कहा, इसीलिए मैं तुम्हारे पास आया हूं।

शशिलेखा—मैं देश-देशान्तर से सुन्दरी कन्या ढूँढ़कर लाऊँगी।

विनोद—वह मेरे ही देश में है।

शशिलेखा—फिर तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। मैं देख सकूँगी महाराज?

विनोद—वह मेरे हृदय की देवी है, मैं उसी से विवाह···।

शशिलेखा—मैं शक्ति भर प्रयत्न करूँगी देव! बताइये वह सौभाग्य-शालिनी कौन है?

विनोद—तुम उसे जानती हो। वह मेरे ही नगर में रहती है। बताओ, वह कौन है?

शशिलेखा—मैं क्या जानूँ? आपकी आज्ञा हो तो···।

विनोद—वह तुम हो।

शशिलेखा—(**आश्चर्य से उद्भूत होकर**) महाराज! मैं नर्तकी हूँ, राजनर्तकी।

विनोद—वह तुम हो, शशिलेखा, मैं विधिपूर्वक तुमसे विवाह करना चाहता हूं। मैं जानता हूं तुम नर्तकी हो, किन्तु तुमने किसी से प्रेम नहीं किया है। तुमने किसी को शरीर दान नहीं किया है। तुम नर्तकी होते हुए भी निष्पाप हो। गंगाजल की तरह निर्मल। बोलो, एक बार कह दो।

शशिलेखा—महाराज! क्षमा कीजिये।

विनोद—नहीं शशिलेखा! मेरे कई बार प्रयत्न करने पर भी तुम अडिग हो। मैं तुम्हीं से परिणय करके शेष जीवन को सुखी करना चाहता हूं।

शशिलेखा—(**चुप रहती है**)

विनोद—बोलो प्रिये।

शशिलेखा—मैं विवाह नहीं कर सकूँगी महाराज!

विनोद—नहीं, ऐसा कहकर तुम मेरा हृदय मत तोड़ो। मेरी एकमात्र कामना, मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है, तुम नहीं जानतीं, तुम्हारे नृत्य को देखकर मैं न जाने कैसा हो जाता हूँ। तुम्हारे सौन्दर्य ने मुझे पर न जाने क्या कर दिया है, शशिलेखा!

शशिलेखा—मैं अपने को इतना भाग्यवान नहीं मानती देव!

विनोद—तुम्हें भाग्य को मनाने के लिए दूर नहीं जाना होगा, प्रिये मैं तुम्हें पट्ट-महिषी बना दूँगा।

शशिलेखा—प्रजाजन इसका विरोध करेंगे और आपको बाध्य होकर मुझे त्यागना होगा। मुझे मेरी स्थिति में ही रहने दीजिये प्रभो!

विनोद—मैं जानता हूँ, प्रजाजन इसका विरोध न करेंगे। उनमें से किसी में भी इसका विरोध करने की शक्ति नहीं है।

शशिलेखा—महाराज, मैं वर्तमान महारानियों की क्रोध-पात्र बनकर अपना जीवन नरक नहीं बना सकती, मुझे क्षमा कीजिये।

विनोद—(**हाथ पकड़कर**) नहीं शशिलेखा, यह नहीं हो सकता। तुम्हें मेरा अनुरोध, मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी होगी, बोलो···बोलो, शशिलेखा, बोलो।

शशिलेखा—महाराज! आप मेरे नहीं, मेरे सौन्दर्य के उपासक हैं।

विनोद—क्या तुम मेरी परीक्षा लेना चाहती हो?

शशिलेखा—नहीं, किसी की सामर्थ्य नहीं है जो आपकी परीक्षा ले।

विनोद—तो तुम मेरा अनुनय स्वीकार कर लो देवि!

शशिलेखा—मैं एक तुच्छ रूप जीवी नर्तकी हूँ महाराज!

विनोद—नहीं, तुम एक साध्वी स्त्री हो शशिलेखा! तुम्हें पाकर कोई भी धन्य हो सकता है।

शशिलेखा—किन्तु···।

विनोद—नहीं, किन्तु-परन्तु की कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हें

पाकर मेरा जीवन सफल होगा, मेरा राज्य कृतार्थ हो जायगा।

शशिलेखा—मुझे सोचने का समय चाहिए।

विनोद—तुम मुझे कुरूप मानती हो?

शशिलेखा—(**मुस्कराकर**) यह आप अपना नहीं मेरी आँखों का अपमान कर रहे हैं महाराज!

विनोद—मैं जानता हूँ प्रिये, मैं जानता हूं!

शशिलेखा—दासी! (**ताली बजाकर**) पेय ला।

विनोद—मैं तुम्हारे प्रेम का पेय चाहता हूँ, शशिलेखा!

शशिलेखा—मैं समझती हूं महाराज! पर...।

विनोद—केवल तुम्हारे स्वीकार करने का विलम्ब है। मैं...(**पेय पीकर**) तुम्हारा पेय भी तुम्हारे समान सुन्दर एवं मादक है। लो तुम भी पियो, आज मैं तुम्हें पिलाऊँगा, लो पियो।

शशिलेखा—(**पात्र लेती हुई**) अनुगृहीत हूँ महाराज! इस जीवन में मैंने किसी को प्रेम नहीं किया। जीवन का पुष्प धीरे-धीरे कुम्हलाने वाली स्मिति-रेखाओं की क्षीण आभा भर रह गया है। अभी कुछ ही दिन तो बीते, जब मैं महाराज के नगर में आई। इससे पूर्व निरन्तर विद्याभ्यास ने मेरे शरीर को, आत्मा को, संयम की शृंखलाओं में बाँध रखा था। मैं ब्रह्मचारिणी थी, यही मेरे गुरुदेव की आज्ञा थी।

विनोद—तुम्हारे गुरु का नाम क्या है शशिलेखा? निश्चय ही जिस गुरु से तुमने शिक्षा पाई है वे संगीत और नृत्य दोनों में ही परम प्रवीण रहे होंगे। तुम्हारा ऐसा मोहक नृत्य और ऐसा मादक संगीत तो मैंने कहीं नहीं देखा और न सुना ही है। तुम निश्चय ही सरस्वती का अवतार हो। तुम्हारा जन्म राजकुल में हुआ और तुम्हारी माता केवल अपने स्वामी, अपने पति की वशवर्तिनी न होने के कारण राजकोप का भाजन बनी। उसने एकान्त जीवन बिताते हुए तुम्हें गुरुदेव सिद्धगन्धर्व से दीक्षा दिलाई।

शशिलेखा—महाराज, आप यह सब कैसे जानते हैं?

विनोद—क्या यह असत्य है?

शशिलेखा—आश्चय है !

विनोद—उन्होंने तुम्हें इसी आशा से भेजा है कि तुम किसी योग्य व्यक्ति से विवाह कर लो तथा आजीवन इस नृत्य-संगीत शास्त्र का प्रचार करो ।

शशिलेखा—महाराज, आपने यह सब कैसे जाना ?

विनोद—किन्तु अब तक तुम्हें कोई भी व्यक्ति विवाह योग्य नहीं देख पड़ा, यही न ? तुमने अपनी माता को सन्देश भेजा है, किन्तु मैं तुम से विवाह करने की प्रार्थना करता हूँ देवि !

शशिलेखा—मैं नहीं जानती थी कि आपको मेरा सब वृतान्त ज्ञात है ।

विनोद—तुम्हारे सौन्दर्य ने मुझे सब कुछ जानने को बाध्य कर दिया है शशिलेखा ! और राजा तो चार चक्षु होता है न, मैं इससे भी अधिक जानता हूं ।

शशिलेखा—(**भय से**) इससे भी अधिक ! क्या मुझ में आपने कोई दोष देखा ?

विनोद—नहीं, तुम स्फटिक से भी अधिक स्वच्छ हो । बोलो, अब भी क्या तुम्हें कोई आपत्ति है ?

शशिलेखा—आपत्ति क्या होगी महाराज, यह तो मेरा सौभाग्य है ।

विनोद—मैं प्रसन्न हुआ देवी, मैं आज ही...।

शशिलेखा—इस विवाह-मंगल-सूत्र से पहले मेरी एक प्रतिज्ञा है ।

विनोद—तुम्हारी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण होगी । प्रतिज्ञा मनुष्य की दृढ़ता का चिन्ह है, तुम अपनी कामना पूर्ण करने में स्वतन्त्र हो ।

शशिलेखा—आप वचन देते हैं ?

विनोद—क्षत्रिय इससे अधिक नहीं कहते ।

शशिलेखा—क्या सब क्षत्रिय क्षत्रिय होते हैं महाराज ?

विनोद—(**खड़े होकर**) जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकता, वह क्षत्रिय नहीं होता शशिलेखा ! तुम मेरी परीक्षा मत लो ।

शशिलेखा—मुझे विश्वास है कि क्षत्रियेश्वर महाराज मेरे सम्मुख प्रतिज्ञा कर रहे हैं किन्तु···।

विनोद—क्या अब भी तुम्हें सन्देह है ?

शशिलेखा—महाराज की यदि मुझ पर कृपा है तो सन्देह कैसा, फिर भी मैं चाहती हूँ यदि आप वचन पूरा न कर सकें···।

विनोद—तुम मेरा अपमान कर रही हो शशिलेखा ! तुम माँगो क्या माँगती हो ? जो कुछ मेरी शक्ति में है वह मैं तुम्हें दूँगा, सम्पूर्ण राज्य, देश का स्वामित्व। यह क्या इससे अधिक भी···फिर यह शरीर भी तो तुम्हारा ही है प्रिये !

शशिलेखा—मैं उपकृत हुई देव ! किन्तु प्रतिज्ञा-पालन में आप पीछे न हट सकेंगे, सोच लीजिये। मैं अपने अपमान का बदला चाहती हूँ।

विनोद—अपमान ! तुम्हारा किसने अपमान किया है ? किसमें इतना साहस है, जो तुम्हारा अपमान करे ? प्रिये, बस इतनी-सी बात ! यह तो तुम कभी भी कह सकती थीं ? वह समय दूर नहीं है, जब तुम्हारे संकेतों पर शासन-सूत्र चलेगा। कहो, किसने तुम्हारा अपमान किया है ? मैं अभी उसका सिर काटकर तुम्हारे सम्मुख उपस्थित करने की आज्ञा देता हूँ।

शशिलेखा—**(खड़ी होकर)** तो वह मेरा अपराधी कौण्डिन्यायन है, मुझे उसका सिर चाहिए।

विनोद—**(एकदम चौंककर)** क्या कहा, कौण्डिन्यायन ? क्या सचमुच महामान्य कौण्डिन्यायन ने तुम्हारा अपराध किया है ? नहीं ऐसा नहीं हुआ होगा, तुम्हें भ्रम हुआ है, वे महान् हैं।

शशिलेखा—मेरा अपराधी कौण्डिन्यायन भिक्षु है, मैं उसका सिर चाहती हूं।

विनोद—कौण्डिन्यायन, भदन्त कौण्डिन्यायन, वे वीतराग भिक्षु, तुम्हारे अपराधी कैसे हो सकते हैं ? नहीं शशिलेखा यह अपनी प्रतिज्ञा लौटा लो, मैं इसके बदले में सम्पूर्ण राज्य तुम्हें दे सकता हूं। अपना

सर्वस्व लुटा सकता हूं, किन्तु मेरे ही उन दीक्षा-गुरु का, जिन्होंने मुझे सुन्दर प्रवचन देकर मनुष्य बनाया, उसका सिर तुम चाहती हो ? वे मेरे गुरु हैं और गुरु न भी होते तो भी वह एक भिक्षु तो हैं ही। वीतराग तपस्वी तो हैं ही। उन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? निश्चय तुम उन पर अकारण क्रुद्ध हो रही हो। जो व्यक्ति वन में एकान्त-साधना करता है, किसी से कुछ लेता-देता नहीं, वह तुम्हारा अपराधी कैसे हो सकता है ?

शशिलेखा—मैं जानती थी आप प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकेंगे, यह आपके वश के बाहर की बात है।

विनोद—**(हँसकर)** क्या तुम मेरी परीक्षा ले रही हो, नहीं शशिलेखा तुम विवाह से पहले ही मुझे इतना बड़ा आघात नहीं दोगी। यदि यह उपहास नहीं है तो मैं समझता हूँ मैंने तुम्हारे हृदय में किसी अन्तरंग-व्यापी विष को नहीं देखा है। मैं जानता हूं तुम बाहर की तरह हृदय में भी स्वच्छ और सुन्दर हो। तुम्हारी आत्मा में कलुष नहीं है, तुम हृदय से भी वैसी सुन्दर हो जैसी बाहर से।

शशिलेखा—यदि आप नहीं पूरा करना चाहते तो रहने दीजिये।

विनोद—तो क्या मैं भ्रम में रहा ! क्या मैं एक नारी के सौन्दर्य में नागिन का रूप देख रहा हूँ ? ओफो ! यह मैंने क्या किया ? बिना समझे-सोचे प्रतिज्ञा कर डाली, अब क्या करूँगा ? **(टहलता रहता है)** किन्तु अब मुझे प्रतिज्ञा पूरी करनी ही होगी। मैं क्षत्रिय हूँ, मैंने एक नारी को वचन दिया है। **(एकदम पीछे मुड़कर)** किन्तु क्या प्रतिज्ञा अधूरी रह जायेगी, मैंने इसे वचन दिया है, मुझे यह प्रतिज्ञा पूरी करनी ही होगी। यह कितना बड़ा पाप है शशिलेखा ! क्या तुम मुझे पाप से मुक्त नहीं कर सकतीं ?

शशिलेखा—क्षत्रिय दो बार नहीं बोलते, मैं तो ऐसा ही सुनती आई हूँ।

विनोद—तुम मेरा सर्वस्व लेकर मुझे भिखारी बना दो, किन्तु प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए मुझे बाध्य न करो। शशिलेखा, मैं कहीं का नहीं रहूंगा। यह मेरे जीवन का सब से बड़ा आत्मदाह-काल होगा।

शशिलेखा—प्रतिज्ञा आत्मा से होती है और आत्मा-हनन महापाप है महाराज !

विनोद—तुम इतना सब कुछ जानती हो और जानकर भी मुझे एक भिक्षु की हत्या करने को बाध्य कर रही हो !

शशिलेखा—मैं अपमानित हूँ, अपमान का बदला चाहती हूँ! मैं महारानी बनने से पूर्व इस लांछन को धो डालना चाहती हूँ।

विनोद—कैसा लांछन ?

शशिलेखा—अपमान का लांछन, तिरस्कार का लांछन, मैं देव की अंकशायिनी होने से पूर्व शुद्ध होना चाहती हूँ।

विनोद—मैं नहीं समझा, तुम स्पष्ट कहो, भिक्षु कौण्डिन्यायन ने तुम्हारा कौनसा अपराध किया है ? अपराध को देखकर ही उसकी मात्रा निर्धारित होती है।

शशिलेखा—किन्तु आपने तो प्रतिज्ञा की है न ! न्याय करने का अधिकार तो आपका नहीं है।

विनोद—तुम ठीक कहती हो, न्याय करने का अधिकार तो मैं प्रेम में अन्धा होकर पहले ही खो चुका हूँ।

शशिलेखा—आप वरदान पूर्ण करने की प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं।

विनोद—प्रतिज्ञा ! एक ओर भीषण प्रतिज्ञा, दूसरी ओर सौम्य मुख, शान्त, गुरुदेव कौण्डिन्यायन का वध। क्या सचमुच मुझे भदन्त कौण्डिन्यायन का वध करना होगा ! नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं ऐसा नहीं कर सकता। (**टहलता है। चुप होकर**) किन्तु क्या प्रतिज्ञा अधूरी रह जायेगी ? क्या मैंने शशिलेखा को वचन नहीं दिया है ? न्याय करने का मेरा अधिकार नहीं है, वह अधिकार मैं रख नहीं सका। मैंने प्रेम में अन्धे होकर एक नारी के सामने अपना विवेक खो दिया। अब मुझे वही करना होगा जिसके लिए मैं बाध्य हूँ। तो (**गम्भीरता से**) क्या वध करूँ ? कौण्डिन्यायन का वध करूँ—उस तपस्वी का, जिसने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा, जिसने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा, जो आधी रात

की तरह शान्त, खरगोश की तरह भोला, बच्चे की तरह निष्पाप है, उसका वध मुझे करना होगा? सुनो (**मुँह फेरकर**) शशिलेखा, क्या सचमुच तुम ऐसा जघन्य कृत्य मुझ से कराना चाहती हो? नहीं ऐसा न करो, यह महापाप है।

शशिलेखा—यह तो आप अपने से पूछिये, महाराज! मैं क्या जानूँ? मैं तो उस पापी कौण्डिन्यायन से अपने अपमान का बदला चाहती हूँ। मैं जानती थी यदि संसार में न्याय की आशा किसी से हो सकती है तो वह राजा ही से, किन्तु जब राजा ही वचन देकर पीछे हट जाय...। क्षत्रिय जो एक बार कह देते हैं उसको प्राण देकर भी पूरा करते हैं। क्षत्रिय.... ओः कितना भ्रम हुआ। अब क्या उपाय है? नारी, जिसका तिरस्कार हुआ, अपमान हुआ, जो कटु वचनों का विष पीकर भी जी रही है। अब उसके उद्धार का उपाय भी क्या है? रहने दीजिये।

विनोद—(**स्वगत**) "मैं जानती थी यदि संसार में न्याय की आशा किसी से हो सकती है तो वह राजा ही है, किन्तु जब राजा ही वचन देकर पीछे हट जाय...।" यहाँ मैं राजा हूँ मैंने वचन दिया है। (**प्रकट**) शशिलेखा! क्या और किसी तरह मेरी परीक्षा नहीं ली जा सकती? मेरी रानी, और सब कुछ तुम्हें दे सकता हूं।

शशिलेखा—मैं और कुछ नहीं चाहती महाराज! मैं केवल उस भिक्षु का सिर चाहती हूं।

विनोद—(**चुप रहकर**) "उस भिक्षु का सिर चाहती हूं और कुछ नहीं चाहती।" भिक्षु का सिर, भिक्षु का सिर! (**सोचकर**) अच्छा तुम्हें भिक्षु का सिर मिलेगा, प्रहरी (**ताली बजाता है, प्रहरी आती है।**) सेनापति प्रद्युम्न से कहो कि भिक्षु कौण्डिन्यायन का सिर काटकर हमारे सामने उपस्थित करें। (**दासी 'जो आज्ञा' कहकर जाती है। इसी समय भिक्षु कौण्डिन्यायन प्रवेश करते हैं।**)

कौण्डिन्यायन—लीजिये महाराज! यह मेरा सिर है, इसे काटकर भावी राजमाता की कामना पूर्ण कीजिये!

विनोद—आप !

शशिलेखा—भिक्षु कौण्डिन्यायन !

कौण्डिन्यायन—यदि मनुष्य के सुख के लिए मेरी आत्मा का बलिदान हो तो इससे अधिक और क्या शुभ हो सकता है ? आपका कल्याण हो। मेरा सिर उपस्थित है।

विनोद—भगवन् ! मैं विवश हूं **(तलवार उठाते हैं)**

कौण्डिन्यायन—आप प्रतिज्ञा-पालन कीजिये महाराज ! (**सिर झुकाते हैं**)

शशिलेखा—ठहरो, तुम्हें अपना सिर कटवाते कष्ट नहीं होगा, भिक्षु ?

कौण्डिन्यायन—आत्मा को कोई नहीं काट सकता। दुख-सुख शरीर के धर्म हैं देवि ! मैंने यही तो अभी तक सीखा है।

शशिलेखा—किन्तु मुझे तो अपनी आत्मा से, अपने सौन्दर्य से मोह है, भिक्षु !

कौण्डिन्यायन—मोह पाप का कारण होता है, मोह मनुष्य का शत्रु है।

शशिलेखा—और सौन्दर्य ?

कौण्डिन्यायन—आत्मा का सौन्दर्य सबसे श्रेष्ठ है। वही स्थिर है। शाश्वत है। क्षणस्थायी इस सौन्दर्य के मद में संसार में युद्ध होते हैं, विषमतायें आती हैं, कष्ट बढ़ते हैं। मैंने आत्मानन्द प्राप्त कर लिया है देवि !

शशिलेखा—तो क्या जो कुछ प्रत्यक्ष है वह झूठ है ?

भिक्षु—प्रत्यक्ष के द्वारा हमें अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को प्राप्त करना होगा, वह अप्रत्यक्ष सौन्दर्य ही स्थायी है।

विनोद—वह अप्रत्यक्ष सौन्दर्य क्या है भदन्त ?

भिक्षु—अप्रत्यक्ष सौन्दर्य आत्मा का प्रकाश है, जीवन की परम शांति है। जिसे प्राप्त करके मनुष्य संसार के दुखी मानव को बाँटता है।

भगवान् बुद्धि ने यही किया। वही शाश्वत कल्याण मार्ग है।

शशिलेखा—यह मेरा यौवन, यह मेरा सौन्दर्य, यह रमणीयता, क्या सब व्यर्थ होगी!

भिक्षु—निश्चय।

शशिलेखा—तुम क्या कह रहे हो भिक्षु, क्या मैं ऐसी सुन्दर सदा न रहूँगी? क्या मेरी अभिलाषायें सदा यौवन के मद में स्नान करके चिर-सौन्दर्य का निरन्तर आस्वादन न करती रहेंगी?

भिक्षु—नहीं, यह तुम्हारा भ्रम है।

शशिलेखा—भ्रम, नहीं, यह प्रत्यक्ष का अपलाप है। मैं सदा ऐसी ही रहूँगी, सदा यौवन के गीत गाकर मैं अपने उत्तरंग सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाये रख सकूँगी। मैं यही चाहती हूं। भिक्षु!

भिक्षु—यह मृगतृष्णा है, मृगमरीचिका है।

शशिलेखा—**(सोचकर)** और तुम्हारा सौन्दर्य, कामदेव को परास्त करने वाला तुम्हारा सौन्दर्य?

भिक्षु—मैं अपने सौन्दर्य के प्रति आसक्त नहीं हूं।

शशिलेखा—तुम तो राजकुमार से भी अधिक सुन्दर हो।

भिक्षु—यह शरीर-सौन्दर्य अस्थायी है। मैं आत्मा के सौन्दर्य की खोज में हूं।

शशिलेखा—वह आत्म-सौन्दर्य क्या है?

भिक्षु—वह अभ्यास से सिद्ध होता है, किन्तु शरीर-सौन्दर्य अस्थायी है। मेरा सिर उपस्थित है महाराज!

विनोद—शशिलेखा! क्या तुम अब भी चाहती हो कि महाश्रवण कौण्डिन्यायन का शिरच्छेद किया जाय?

शशिलेखा—**(अपने आप)** मेरा सौन्दर्य अस्थायी है, शरीर भ्रम है, मिथ्या है, यौवन भ्रान्ति है, नहीं मैं विश्वास नहीं करती भिक्षु, मैं प्रत्यक्ष में विश्वास करती हूं। क्या तुम मेरा वास्तविक रूप नहीं देख पाते?

विनोद—नहीं! मैं तुम्हारा शिरच्छेद नहीं कर सकता। मैं प्रतिज्ञा-

भंग करना, क्षत्रियत्व से हारना स्वीकार करूँगा, किन्तु···। शशिलेखा, तुम अपना यह वरदान लौटा लो।

भिक्षु—तुम अपना वास्तविक रूप देखना चाहती हो, तो देखो यह है तुम्हारा वास्तविक रूप।

[**स्टेज पर हल्का अन्धकार छा जाता है। शशिलेखा देखती है उसके शरीर से धीरे-धीरे एक-एक कंकाल निकलकर सामने खड़ा हो जाता है, जो खड़खड़ करके हँसता है।**]

शशिलेखा—(**सामने देखकर**) यह, यह भयंकर कंकाल मेरा रूप है, नहीं, ओह, हटाओ इसे भिक्षु! मुझे भय लग रहा है। मैं डर के मारे मरी जा रही हूं। मैं इस रूप को नहीं देख सकती। (**आँख मींचकर चिल्लाती है, चिल्लाती रहती है।**)

भिक्षु—महाराज विनोदवर्धन, देखा तुमने शशिलेखा का रूप, जिस पर तुम इतने मुग्ध हो, उससे विवाह करना चाहते हो!

विनोद—मेरा जी संसार से उपरत हो रहा है प्रभो, मुझे मार्ग दिखाओ।

शशिलेखा—हटाओ इसे, मैं मरी जा रही हूं। ओह यह मेरे ही पास आ रहा है। मुझे छू रहा है। बचाओ! रक्षा करो। (**धीरे-धीरे पूर्वावस्था में आती है।**)

भिक्षु—महाराज, मेरा सिर उपस्थित है, यह लीजिये।

[**भिक्षु देखते हैं दोनों उनके चरणों पर गिरे हैं**]

शशिलेखा—मुझे अपनी शरण में ले लो। मुझे आत्मप्रकाश, वास्तविक शान्ति की ओर ले चलो प्रभो!

विनोद—मुझे कल्याण-मार्ग दिखाओ गुरुदेव!

भिक्षु—कल्याण होगा वत्स!

[**आगे-आगे भिक्षु कौण्डिन्यायन और पीछे-पीछे दोनों हाथ जोड़े चले जा रहे हैं। पीछे नेपथ्य में आवाज आ रही है।**]

बुद्धं शरणं गच्छम्मि
संघं शरणं गच्छम्मि
धम्मं शरणं गच्छम्मि

७

सौदामिनी

(सोमनाथ मन्दिर का मध्यकालीन चित्र)

पात्र-परिचय

विजयार्क	सौदामिनी
सुदेव	सुनयना
पाशुपत	नन्दिनी
जयार्क, भीमा, भासुर	नाविक, प्रजाजन आदि

[महल के एक कोने में सौदामिनी और सुनयना बैठी हैं। सामने समुद्र का गर्जन और नगर का कोलाहल सुनाई दे रहा है। नगाड़े, घण्टे और घड़ियाल की ध्वनि आ रही है। सौदामिनी—१६ वर्ष की युवती—और उसी उम्र की उसकी सखी सुनयना अपने विचारों में गुम-सुम है। सन्ध्या समय।]

सौदामिनी—(एकाएक) यह कैसा कोलाहल है सुनयना ! जैसे सारा नगर फटा पड़ रहा हो।

सुनयना—कोलाहल दो ही तरह फूटता है खुशी से या रंज से।

सौदामिनी—उत्सव मनाया जा रहा है ?

सुनयना—विजयोत्सव ! हमारी हार का उत्सव सखी !

सौदामिनी—(**घूमकर तेजी से**) क्या मतलब ?

सुनयना—क्या यह भी बताना पड़ेगा। शायद तुम बहुत भोली हो।

सौदामिनी—ओह !

सुनयना—पतझड़ की मृत्यु पर वसन्त का उत्सव हो रहा है। तुम्हारे पिता महाराज विजयार्क के पराजित होने पर राजा ने सुदेव प्रभास में उल्लास आनन्द मनाने की आज्ञा दी है।

सौदामिनी—तूने कैसे जाना।

सुनयना—प्रहरी ने बताया। उसने एक बात और भी कही है···।

सौदामिनी—सब कह डाल !

सुनयना—बहुत कठोर है।

सौदामिनी—मेरा हृदय पत्थर हो चुका है।

सुनयना—कल सायंकाल तक यदि महाराज—तुम्हारे पिता—ने अधीनता स्वीकार न की तो···

सौदामिनी—(**चौंककर**) तो···क्या उनका वध किया जायगा ? (**चिल्लाकर**) वध कर दिया जायगा···केवल इसलिए कि प्रभास के राजा सुदेव की अधीनता उन्होंने नहीं मानी। वे उसके अधीन नहीं होना चाहते ?

सुनयना—हम लोग भी तो बन्दी हैं राजकुमारी !

सौदामिनी—मैं बन्दी नहीं रह सकती। गांठें खुलेंगी···मुझे··· मुझे···(**भीतर-ही-भीतर विवशता की घुटन का अनुभव करती है।**)

सुनयना—(**गम्भीरता से**) कभी-कभी राजा होना बहुत बड़ा अभिशाप हो जाता है। बादल तो सूरज को ही ढकते हैं न।

सौदामिनी—सुन, समुद्र अब भी गरज रहा है। उसकी लहरें अब भी प्रभास के तटों से टकरा रही हैं। नहीं, इससे पहले कि पिता का वध हो···मुझे···मुझे···!

सुनयना—सुना है तुम्हें उस स्थान पर ले जाया जायगा जहाँ उनका···?

सौदामिनी—नई बात नहीं है। बस कर !

[**पद-चाप सुनाई देती है**]

कोई आ रहा है। कौन होगा···।

[**सुदेव की पत्नी नन्दिनी का कुछ सहायिकाओं के साथ प्रवेश**]

पहली सखी—महारानी, यहीं हैं वे दोनों।

दूसरी सखी—सागर की लहरों की तरह जिन पर भाग्य के थपेड़े लग रहे हैं।

नन्दिनी—हूँ ! (**व्यंग्य से**) कहो, कैसा लग रहा है यहाँ ?

[**सौदामिनी पीठ फेरकर खड़ी हो जाती है**]

अब भी इतना गर्व। रस्सी जल जाने पर भी ऐंठन नहीं गई, पीठ फेरे खड़ी है। इधर देख···

पहली सखी—गाँव की है न।

दूसरी सखी—लट्ठ गँवार। अरी देखती नहीं महारानी हैं।

नन्दिनी—भाग्य के आकाश में दुर्दिन की तरह इन दोनों का जन्म हुआ है।

सुनयना—निश्चय ही महारानी, पर सौभाग्य भी किसी की बपौती नहीं है। जो फूल खिलता है वह नहीं जानता कि वह माली के द्वारा तोड़े जाने के लिए ही खिल रहा है।

नन्दिनी—(**व्यंग्य से**) शायद तुम्हें मालूम नहीं कि इस राजमार्ग के अन्त में एक बीहड़ सघन जंगल भी है।

सौदामिनी—उसमें मनुष्य का रुधिर पीने वाले बर्बर सिंह रहते हैं, जिनकी दाढ़ों में खून लग चुका है।

नन्दिनी—आहार सदा खाये जाने के लिए ही बनाया गया है।

सौदामिनी—किन्तु मृगया तो सिंह की भी होती है न !

नन्दिनी—जो भी हो तुम्हारा भाग्य मेरी मुट्ठी में है, जानती हो।

सुनयना—स्वाति नक्षत्र में आकाश की बूँद सीपी के खुले मुख में गिरकर मोती बन जाती है और समुद्र में खारी पानी महारानी !

नन्दिनी—(**उत्तेजित होकर**) तो मैं खारी पानी हूँ क्यों। (**क्रोध में भरकर**) तुम दोनों ने भी अपने पिता की तरह मरने की ठानी है। अच्छी बात है वही होगा। चलो।

पहली सखी—देखो कितनी ढीठ है यह। महारानी के सामने भी बोलती जाती है।

सुनयना—यदि मरना ही है तो कौन रोक सकता है।

नन्दिनी—(**लौटकर**) मैं रोक सकती हूँ यदि तेरी सखी मेरी दासी होना स्वीकार कर ले।

सुनयना—सूर्य की किरणों को पिटारी में बन्द करके नहीं रखा जा सकता, महारानी!

पहली सखी—एक्खे, सूर्य की किरणों को तो देखो।

दूसरी सखी—मरने के पहले चींटी के पंख निकल आते हैं।

नन्दिनी—चाहती थी यह फूल इतनी जल्दी न मुरझाता। पर जब तुम दोनों को मरना ही है···। सुनो कान खोलकर सुन लो, कल सायंकाल को तुम्हारे पिता का वध किया जायगा। उसके बाद···। (**सखियों से**) चलो, उत्सव को विलम्ब हो रहा है।

पहली सखी—हाँ चलिये, भगवान् की आरती का स [illegible] गया है।

[**जाती हैं**]

सौदामिनी—सुनो रानी, कोई भी बड़ा नहीं है न कोई छोटा। यह अवसर की बात है कि तुम···

नन्दिनी—(**लौटकर**) अवसर ही विजयार्क की कन्या को मेरी दासी बनाएगा।

सौदामिनी—कल को आज तक किसी ने नहीं जाना है। हो सकत है इसका···

नन्दिनी—जो आज को ठीक-ठीक जानता है वही कल को भी जानत है सौदामिनी। तेरे पिता का वध निश्चित है और तेरा···(**लौटने लगती है**)

सौदामिनी—दर्प की आँखें यथार्थ को ढक लेती हैं। अभिमान में मनुष्य भी भुनगा दिखाई देने लगता है नन्दिनी !

पहली सखी—महारानी का नाम !

दूसरी सखी—गँवारिन !

नन्दिनी—(**दाँत पीसती हुई सहायिका के हाथ में बेंत छीनकर साड़-साड़ सुनयना और सौदामिनी को पीटती है**) ले ले, और ले। कल का दिन दूर नहीं है केवल चार प्रहर की बात है।

[**जाती है। सौदामिनी और सुनयना पिटने के बाद गुम-सुम**]

सौदामिनी—(**क्रोध की आग फेंकती हुई पीछे देखती रहती है**) मानिनी !

सुनयना—मान अधिकार के मद से फूटता है। इस चुड़ैल का इतना साहस !

सौदामिनी—मद का विष मनुष्य को पागल बना देता है। एक बार तो जी में आया···(**क्रोध का घूँट पीकर**)

सुनयना—(**आँखों में आँसू भरकर**) भाग्य की बात है।

सौदामिनी—रोती क्यों है ? (**उसी तरफ देखती रहती है**)

सुनयना—(**सौदामिनी से चिपटकर रोती हुई**) यह भी देखना बदा था।

सौदामिनी—(**आह भरकर**) न जाने क्या-क्या देखना पड़ेगा सखी ! (**फिर स्वस्थ होकर**) पराजित को सभी कुछ सहना होता है किन्तु साहस खोने की आवश्यकता नहीं है। मुझे लगता है जैसे यह मेरे लिए कुछ करने की एक प्रेरणा है। मैं करूँगी ? देखूँगी क्या होता है। (**टहलने लगती है**) देखूँगी···मैं बन्दी नहीं रह सकती। नहीं रह सकती। चाहती है मैं इसकी दासी हो जाऊँ !

सुनयना—इससे पूर्व···।

सौदामिनी—···(**चुप**)

सुनयना—वह तुम से डरती भी है।

सौदामिनी—**(लौटकर)** मुझ से क्यों, फिर कोई आ रहा है, कौन होगा ? **(सोचकर)** मेरे भविष्य का निर्माण हो रहा है। प्रत्येक नई घड़ी नया सन्देश ला रही है।

सुनयना—तुम्हारे सौन्दर्य से डरती है। अरे प्रहरी है।

[बूढ़ी स्त्री लकड़ी लिये आती है]

स्त्री—(**लकड़ी जमीन पर मारकर**) ठीक, सब ठीक है। ऐ क्या सोच रही हो ?

सुनयना—कुछ भी नहीं। क्या सोचते ?

स्त्री—आज भगवान् सोमनाथ के मन्दिर में उत्सव मनाया जा रहा है।

सुनयना—क्यों ?

स्त्री—**(अट्टहास करके)** अरे, इतना भी नहीं जानतीं ! श्रवण द्वीप की विजय के उपलक्ष में आज भगवान् का रुद्राभिषेक हो रहा है। आज उसका अन्तिम दिन है।

सुनयना—अच्छा !

स्त्री—महाराज और महारानी भी वहीं गये हैं।

[घण्टे-घड़ियाल नगाड़े के साथ जय सोमनाथ भगवान्, जय-जय महादेव, हर-हर महादेव की आवाजें तेज होती हैं।]

लो पूजा होने लगी ! अब स्तुति होगी, फिर नाच।

सुनयना—कौन नाचेगा ?

स्त्री—देव-दासियाँ।

सुनयना—वे कौन हैं ?

स्त्री—मन्दिर में कुछ ऐसी कन्यायें हैं जो नित्य सायंकाल भगवान् के सामने नाचती हैं। उनका यही काम है।

सुनयना—और भी कोई नाचता है ?

स्त्री—भक्ति में भरकर सभी नाचते हैं। सभी कीतन करते हैं। तुम्हारे श्रवण द्वीप में मन्दिर नहीं हैं ? हाँ, अब तुम्हारा उसमें क्या है ?

वह तो अब महाराज का है। कल सायंकाल विजयार्क के वध के बाद पूरी तरह वह महाराज का हो जायगा।

सौदामिनी—(**घूमकर**) चुप रहो !

स्त्री—(**हँसकर**) बुरा लग रहा है। बुरा तो लगेगा ही। बुरा लगने की बात ही है। क्या करें बिचारी ? (**हँसकर**) हा हा हा यह भी खूब है हम से कहती है चुप रहो। क्यों चुप रहें ? (**तेजी से**) भला हमारे चुप रहने से क्या होता है ? भाग में जो कुछ लिखाकर लाई हो वह तो भुगतना ही पड़ेगा बेटी !

[**लकड़ी टेककर घूमती है, फिर रुककर**]

सुनो, यह सब भगवान् की माया है। जो वह करते हैं वही होता है। महाराज के ऊपर देवता प्रसन्न हैं। जो चाहते हैं वह हो जाता है।

सुनयना—हमने भगवान् का कौनसा अपराध किया है।

स्त्री—अपराध, कुछ अपराध किया ही होगा। तभी तो दण्ड भुगत रही हो। राजकुमारी होते हुए भी, नहीं तो कहीं महारानी बनतीं। इतनी सुन्दर, जैसे हीरे की कनी। ऐसी तो एक भी स्त्री सारे प्रभास में दिया लेकर ढूँढ़े भी न मिले। क्या नाम है 'सौदामिनी !' (**हँसती है**)

सुनयना—(**डाँटकर**) क्यों हँसती है ?

सौदामिनी—तू क्यों बोलती है सुनयना ?

स्त्री—लो और पूछो जैसे हम कोई पागल हैं। 'तू क्यों बोलती है सुनयना ?' मत बोल, जा भाड़ में। हमें क्या ! हमने तो सोचा, लाओ दुखिया हैं बिचारी, हालचाल ही पूछ लें। मत बोलो, हमें तो महारानी की आज्ञा थी कि इन्हें लोहे की जंजीरों में बाँधकर रखो। हमने ही कहा बाँधने की क्या जरूरत है, कोई भाग थोड़े ही जायंगी।

[**घण्टे-घड़ियालों की आवाज और तेज होती है**]

अब स्तुति होगी, अब चलें, द्वार बन्द कर दें। मरो पड़ा यहीं।

[**जाने लगती है**]

सुनयना—सुनो, सुनो तो। बुरा मान गईं। क्या बतायें ? तुम

जानती हो कितना दुख है राजकुमारी को। बिचारी के पिता मारे जा रहे हैं। राज-पाट सब छूट गया। आज तुम्हारो बन्दी हैं। कल शायद इन्हें भी···

स्त्री—(**लौटकर**) हम क्यों बुरा मानेंगी? हमारे जाने कोई मरे, कोई जिये। हम तो यहाँ रक्षा के लिए हैं। कोई बन्दी यहाँ आता है उस पर पहरा देती हैं।

सुनयना—नहीं, नहीं, हमारा तो भाग फूटा है ही। फिर कोई हम पर क्यों क्रोध करे? न जाने कल क्या हो? थोड़ी सी सांसें हैं। फिर कल यह फूल-सा शरीर न जाने कहां होगा? (**आँसू भर जाते हैं**) जिसकी मुसकान पाने को बड़े-बड़े तरसते हैं आज वह···

स्त्री—अरे! रोती क्यों हो? रोने से क्या होता है अब तो जो होना होगा, होगा ही। (**आह भरकर**) कितनी दुखिया है बिचारी! ओह! हमारा भी कितना बुरा काम है। हमीं इस बन्दीघर पर पहरा देती हैं। किसी का भी तो दुख नहीं बटा सकतीं। भगवान् से प्रार्थना करो। वह चाहे तो सूली से भी मनुष्य बच सकता है।

सुनयना—तुम ठीक कहती हो मां! पर भगवान् के दर्शन कैसे हों? कैसे उनसे प्रार्थना करें?

स्त्री—यहीं से प्रार्थना करो और क्या! वैसे तो···नहीं, नहीं! मैं भी कैसी पागल हूँ?

सुनयना—(**उत्सुक होकर**) क्या कोई उपाय उनके दर्शन करके प्रार्थना करने का नहीं है? बड़ी साध थी राजकुमारी की। बड़ी-बड़ी दूर से लोग उनके दर्शनों को आते हैं। चाहती थीं मरने से पहले एक बार सोमनाथ भगवान् के दर्शन करते। सुना है जो वहां अभिलाषा लेकर जाता है वह पूरी होती है।

स्त्री—सो तो है ही। मेरा ही लड़का मृत्यु के मुख से बचा है। सांप ने काट लिया था। मैं उसे ले गई और मन्दिर के सामने जाकर पटक दिया। रोने लगी। रोते-रोते प्रार्थना करती जाती थी। मन्दिर के स्वामी पाशुपत महाराज आ गये, जैसे साक्षात् शिव ही आ गये हों।

आते ही बोले, क्या है ? मैंने रोते हुए पुत्र की तरफ संकेत किया—'सांप ने काटा है ।' तत्काल एक औषधि मँगाकर कहा—'घोटकर पिला दे ! जा, ठीक हो जायगा ।' थोड़ी देर में विष उतर गया । हजारों के कष्ट वहां दूर होते हैं ।

सुनयना—भगवान् सोमनाथ का प्रताप ही ऐसा है ।

स्त्री—तुम्हें देखकर बड़ा दुख हो रहा है पर मैं क्या कर सकती हूँ बेटी ?

सुनयना—क्या हम एक बार भगवान् के दर्शन नहीं कर सकते । मरने से पहले एक बार यदि ऐसा हो सकता मां !

स्त्री—महारानी को तुमने क्रोधित कर दिया । नहीं तो उसी गुहा-गृह से वे तुम्हें ले जा सकती थीं ।

सुनयना—'गुहागृह' सुरंग ।

स्त्री—हां, महलों से एक मार्ग भीतर-ही-भीतर भगवान् सोमनाथ के मन्दिर को जाता है ठीक गर्भगृह तक । महाराज प्रायः उसी मार्ग से सोमनाथ के दर्शन करने जाते हैं ।

सुनयना—यदि तुम्हारी कृपा हो जाय तो हम दोनों भी मरने से पहले एक बार दर्शन कर लें ।

स्त्री—**(चौंककर)** मेरी कृपा ! शिव ! शिव ! मैं क्या कर सकती हूँ ? **(रुककर)** वैसे तो वह गुहा इसके बाहर ही है । पर बड़ा कड़ा पहरा लगा है बेटी ! चलें । सो जाओ, रात हो रही है । फिर भी किसी बात की आवश्यकता हो तो मुझ से कहना । मुझ से तुम्हारा दुख नहीं देखा जाता । पर क्या करूँ ? **(चली जाती है)**

सुनयना—**(उदास मुद्रा में)** अब कोई उपाय नहीं है सखी ! पिता का वध निश्चित है । वे इस राजा के सामने आत्म-समर्पण नहीं करेंगे । मैं उनका स्वभाव जानती हूं । क्षत्रिय केवल एक बार ही मरता है ।

सौदामिनी—आत्म-समर्पण का अर्थ है राजा का कर-दाता बनना और मेरा राजा सुदेव की दासी बनना । पिता की मृत्यु के बाद मैं भी

जीऊँगी नहीं सुनयना !

सुनयना—किन्तु एक समय तो सुदेव तुम्हारी दृष्टि में बस गये थे राजकुमारी !

सौदामिनी—आज मैं उससे घृणा करती हूँ। वह मेरे पिता का घातक है। मेरे दुर्भाग्य का विधाता। मुझे स्मरण है जब दो वर्ष पूर्व मैं अपनी ग्राहिणी नौका में जल-विहार कर रही थी और एकाएक लहरें तेज हो उठीं। प्रचण्ड पवन के झोंकों से हमारी ग्राहिणी डगमगाने लगी—मुझे याद आ रहा है उस समय···

[पर्दा गिर उठता है। रंगमंच पर अँधेरा है। हवा के झोंके। पानी की चमक। लहरों का तेजी से उठना। समुद्र का गर्जन बढ़ना। पालों की फड़-फड़ की आवाज। एक बड़ी मछली का चिल्लाकर नाव की ओर दौड़ना। और लम्बे बर्छे और भालों को सम्हालकर मल्लाहों का चिल्लाते हुए प्रहार करना। मारो-मारो। मुँह पर मारो, तू ढाल सँभाल। तू डाँड चला। दौड़, तेजी से नाव को दौड़ा। पूर्व की ओर, जल्दी कर भानू, भीमा, मार और मार। शोरगुल, मछली का चिल्लाना। हवा का तेज होना। लहरों की छप-छप।]

पहला नाविक—नाव डगमगा रही है। छेद होगया है। तूफान, तूफान···

दूसरा नाविक—लहरें ग्राहिणी में भीतर भर रही हैं। पानी, पानी, पानी भर रहा है।

कई नाविक—मछली भाग गई। तूँबे बाँध लो। सर्पिणी नौका को समुद्र में फेंक दो। **(चिल्लाने-चीखने की आवाज)** घबराओ मत ! राज-कुमारी और महारानी को नौका में बैठा दो। बैठिये, बैठिये ! जल्दी करो। अरे पाल छोड़ डाँड लेकर छोटी नौका में कूद पड़ो। मछली मर गई। भाग गई। **(छप-छप की आवाज)** क्या हुआ ?

[सौदामिनी का चिल्लाना]

सौदामिनी—माँ ! माँ !

पहला नाविक—छोड़िये, छोड़िये, छोड़िये। आप भी बह जायंगी।

मछली है बड़ी मछली। छोड़ दीजिये, सौदामिनी छोड़ दो। अपने को बचाओ। जल भर रहा है इस नाव में। कूद पड़िये, कूदिये राजकुमारी! नाव डूबी जा रही है। 'गुडुप-गुडुप'।

सौदामिनी—हाय माँ! **(रोती है)** मां को मछली खींच ले गई।

भीमा—रोने का समय नहीं। धीरज धरो, साहस से काम लो बेटी! लहरें फिर भी बढ़ रही हैं। भगवान् सोमनाथ ने चाहा तो पहुंच जायंगे।

सौदामिनी—वह बड़ा जल-पोत आ रहा है। उसे, उसे बुलाओ भीमा। पर क्या हमारा है वह···

भीमा—(**फूली हुई साँस से**) उसने हमें देख लिया है। वह इसी ओर आ रहा है। डरो मत बेटी, मैं प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। वैसे तुम भी तैरना जानती हो। समुद्र की बेटी हो न। (**लहरों का तेजी से बढ़ना**)

सौदामिनी—सर्पिणी नौका कितनी दूर चल सकेगी भीमा! लहरें इस निर्बल नौका के टुकड़े-टुकड़े किये दे रही हैं। हाय मां···

भीमा—साहस मत हारो बेटी! सर्पिणी डूब जाय तो तैरने लगना। तुम्बिका बाँध लो कसकर।

सौदामिनी—मैं तैयार हूँ भीमा! सर्पिणी में जल, जल भर रहा है! जल भर रहा है डूबी डूबी।

भीमा—(**फूली साँस से**) कोई बात नहीं। को···ई बात नहीं? तैरो तैरो···।

सौदामिनी—(**पानी में छप-छप करती है**) चलो, चलो! चलो··· बढ़ो···

[दूर से जल्दी करो, जल्दी करो दोनों डूब रहे हैं। स्त्री है, एक पुरुष भी। जल्दी करो वे बह रहे हैं। अब केवल स्त्री के केश दिखाई दे रहे हैं। पकड़ो, पकड़ लो। कुछ क्षण चुप्पी। यह है, कोई स्त्री है।]

सुदेव—(**पद-चाप**) कोई स्त्री है ? देखो साँस ह ? मर तो नहीं गई ? लहरों के कारण मूर्च्छित हो गई है ?

पहला मल्लाह—बच जायेगी महाराज ! अभी इसके भीतर का जल निकालते हैं। बच जायगी उल्टा करो। (**गले से पानी निकालने की आवाज**) ठीक है, ठीक हो रही है।

सुदेव—दूसरा आदमी क्या हुआ ?

दूसरा मल्लाह—वह ठीक है। वह तो नाविक है महाराज ! वह मर नहीं सकता। यह नाविक-कन्या नहीं है इसीलिए लहरों के थपेड़े नहीं सह सकी। हम लोग ठीक समय पर पहुंच गये नहीं तो, नहीं तो···

सुदेव—यह कौन है ? साधारण स्त्री नहीं है।

पहला मल्लाह—श्रवण द्वीप की कन्या दिखाई देती है।

सुदेव—अभी चेतनता नहीं आई ?

पहला मल्लाह—कुछ समय लगेगा। सन्ध्या हो रही है। कृष्ण पक्ष की रात है···यहां हम प्रभास से दूर आ गये हैं महाराज !

सुदेव—हां, हां, लौट चलो। मैं भगवान् की शयनारती से पूर्व पहुंच जाना चाहता हूं। वह कन्या ठीक हुई ?

दूसरा मल्लाह—जो आज्ञा ! (**लहरों की छप-छप**)

सौदामिनी—(**घबराकर**) मैं कहां हूँ ? मैं कहां हूँ ? मुझे क्या हो गया था ?

सुदेव—डरो मत, तुम सुरक्षित हो सुन्दरी !

सौदामिनी—भीमा, भीमा, भीमा कहां है ?

पहला मल्लाह—भीमा बच गया है, तुम महाराज की छत्रछाया में हो बेटी !

सौदामिनी—कौन महाराज ?

सुदेव—मेरा नाम सुदेव है सुन्दरी ! मैं प्रभास का राजा हूँ। धैर्य धरो। ओह···

सौदामिनी—आप ! (**आँखें खोलकर उनको देखती रहती है ।**)

सुदेव—घबराओ मत, तुम स्वस्थ हो जाओगी सुन्दरी ! विधाता भी बड़ा मौजी है । (**धीरे से**) न जाने कहाँ क्या दे दे ? कुछ नहीं जाना जा सकता ।

सौदामिनी—(**आँखें बन्द करके**) भीमा ! भीमा !

सुदेव—(**मल्लाह से**) देखो भीमा को बुलाओ । (**सौदामिनी से**) मुझ से कहो सुन्दरी, मैं तुम्हारी आज्ञा पालन को प्रस्तुत हूँ ।

सौदामिनी—(**रोकर**) मेरी माँ, राजमाता ?

सुदेव—क्या हुआ तुम्हारी माँ को !

सौदामिनी—मुझे डर लग रहा है । मुझे भय लग रहा है । जैसे वह मछली···

नाविक—(**आकर**) मछली इस कन्या की मां को पकड़कर ले गई महाराज !

सुदेव—यह कौन है ?

नाविक—विजयार्क की पुत्री । भीमा ठीक हो रहा है । मैं देखूँ ।

सुदेव—श्रवण के विजयार्क की पुत्री । ओह तभी-तभी । हां जाओ । बहुत दिनों से सुन रखा था । आज,···कितना रूप···

सौदामिनी—(**उठकर बैठ जाती है**) कितना भयंकर दृश्य था··· मेरा हृदय अभी तक काँप रहा है ।

सुदेव—भय की मुद्रा में भी कितना आकर्षण है । आज मेरी आंखें धन्य हुईं । तुम्हारा क्या नाम है सुन्दरी ?

सौदामिनी—सौदामिनी ।

सुदेव—सौदामिनी ! यथार्थ नाम है । मेरे अंग-अंग में उसका प्रवाह दौड़ने लगा है ।

सौदामिनी—(**सुदेव को देखकर नीची निगाह कर लेती है**) मुझे श्रवण पहुँचा दो ।

सुदेव—अवश्य, देखो नाविक, इन्हें श्रवण पहुँचा दो। हम दूसरी नौका पर प्रभास जायंगे। तुम जाओ!

सौदामिनी—अच्छा, धन्यवाद!

पहला मल्लाह—महाराज! वह नौका निर्बल है, कमज़ोर है और समुद्र में तूफ़ान आ रहा है।

सुदेव—आज्ञा पालन हो! यह इसी नौका में जायगी। जाओ सुन्दरी, हमारी नौका तुम्हें श्रवण तक पहुंचा देगी। जाओ? मेरा नाम सुदेव है।

[**पर्दा गिरता है। पुनः रंगमंच का पूर्व रूप**]

सौदामिनी—वह समय जैसे मेरी आंखों की छाया बन गया है। महाराज सुदेव की वह आकृति आज भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित है।

सुनयना—तो कहो, उन्होंने तुम्हें निष्काम जीवन-दान किया।

सौदामिनी—अपनी आकृति मेरे मन में अंकित करके। आज सोचती हूँ मनुष्य इतना निर्दयी भी हो सकता है।

सुनयना—उन्होंने तुम्हें नहीं पहचाना?

सौदामिनी—उन्होंने मुझे जीवन में प्रथम बार सुन्दरी कहकर पुकारा, मैं उनकी छवि देखकर विस्मृत-सी हो गई, बहुत देर तक मैं सोचती रही, कितना अच्छा होता कि वे मुझे देखते रहते और मैं···

सुनयना—अब कोई उपाय नहीं है?

सौदामिनी—मैं जीवन से हारना नहीं जानती सुनयना! मुझे विश्वास है, हमें यहाँ से निकलना होगा।

सुनयना—(**साँस लेकर**) यदि ऐसा हो सके सखी···

[**प्रहरी का प्रवेश**]

स्त्री—जाग रही हो, बड़ा बुरा समाचार है।

सुनयना-सौदामिनी—(**घबराकर दोनों**) क्या···

स्त्री—क्या कहूँ!

सुनयना—(**पास जाकर**) कहो, क्या बात है मां?

स्त्री—तुम मुझे मां मत कहो। मैं तुम्हारी मां नहीं हूँ। मैं तुम्हारा

कोई भला नहीं कर सकती। (**भरे हुए गले से**) कितनी बुरी बात है! महारानी तुम्हें दासी बनाना चाहती हैं, यदि तुम दासी बनना पसन्द नहीं करोगी तो तुम्हें मन्दिर की देव-दासी बना दिया जायगा। या फिर······

सुनयना—या फिर ··

स्त्री—तुम्हारा वध! अवश्य लौटकर नहीं जा सकतीं।

सौदामिनी—मुझे मर जाना स्वीकार है, पर दासी मैं नहीं बनूँगी।

स्त्री—भगवान् सोमनाथ तुम्हारी सहायता करें। उन्हीं की प्रार्थना करो।

सुनयना—सुनो मां, क्या हम एक बार भगवान् का दर्शन कर सकती हैं?

स्त्री—नहीं, कोई उपाय नहीं है।

सुनयना—उस गुहा-गृह से मां, तुम्हीं हमारा उद्धार कर सकती हो।

स्त्री—मैं मारी जाऊँगी···

सुनयना—हम दर्शन करके तुरन्त लौट आवेंगी, तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।

स्त्री—मैं अबला स्त्री हूँ। (**रुककर**) अच्छा, जल्दी लौटना, कोई देखे नहीं।

[दृश्य परिवर्तन]

[पाशुपत के बैठने का स्थान। रात्रि का द्वितीय प्रहर। व्याघ्र और मृग-चर्म का पादपीठ।]

सुदेव—यहां तो कोई नहीं है भासुर! क्या गुरुदेव सोने चले गये?

भासुर—स्वामी रात्रि में नहीं सोते देव! देखूँ क्या?

सुदेव—हां, उनसे एक आवश्यक परामर्श करना है।

भासुर—(**इधर-उधर घूमकर**) स्वामी पधार रहे हैं। (**खड़ाऊँ की आवाज**)

सुदेव—महात्मा आ रहे हैं। प्रणाम करता हूँ गुरुदेव!

पाशुपत––नमः शिवाय, नमः शिवाय।

सुदेव—गुरुदेव, मेरे मन में बड़ा संघर्ष हो रहा है। (**रुककर**) विजयार्क···

पाशुपत—विजयार्क ही संघर्ष का कारण है।

सुदेव—हां, गुरुवर!

पाशुपत—उसको दण्ड दिया जा रहा है।

सुदेव—(**चुप**)

पाशुपत––वह शिव-भक्त है वत्स!

सुदेव—(**चुप**)

पाशुपत—तुम्हारी तरह शिव-भक्त। जय और पराजय क्षणिक हैं राजन्!

सुदेव—राज्य की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है।

पाशुपत—(**हँसकर**) आवश्यक है, वह कहां है?

सुदेव—बन्दी-गृह में।

पाशुपत––कारागार में।

भासुर—वह उद्धत है, उसने प्रभासपति का अपमान किया है, उसने राजाज्ञा का तिरस्कार किया है।

पाशुपत––वह वीर है।

सुदेव—(**उत्तेजित होकर**) गुरुदेव!

पाशुपत—मैं जानता हूँ वह उद्धत है, किन्तु वह वीर है। उसके द्वारा भगवान् सोमनाथ के देवल का कार्य सम्पन्न होगा।

सुदेव—मैंने उसके वध की आज्ञा दे दी है। कल सायंकाल उसका वध किया जायगा।

पाशुपत—हूं!

सुदेव—मैं ज्योतिर्लिंग भगवान् सोमनाथ की प्रतिष्ठा के लिए···

पाशुपत—तुम एक निमित्त हो सुदेव, भगवान् स्वयं अपना कार्य करते हैं। मनुष्य कितना लघु, कितना तुच्छ, यह विश्व उनकी लीलामात्र

है। हम निरीह प्राणी···

सुदेव—मेरी कामना है आसपास के देशों को पराजित करके शैव साम्राज्य की स्थापना करूँ।

पाशुपत—उसमें तुम्हारे दर्प-लालसा की अग्नि छिपी है।

सुदेव—वह अग्नि, भगवान् की महिमा का प्रदीप होगी। विजयार्क का वध···

पाशुपत—नहीं होगा ?

सुदेव—**(चिल्लाकर)** गुरुदेव !

पाशुपत—विजयार्क भगवान् का सेवक है।

सुदेव—वह विद्रोही है ! **(काँपने लगता है।)**

पाशुपत—क्रोध मत करो सुदेव ! भविष्य तुम्हारे हाथ में नहीं है ! उसका संचालन कोई और करता है।

सुदेव—यदि वह मेरी अधीनता स्वीकार करे···

पाशुपत—तुम मानते हो तुम भी किसी के अधीन हो।

सुदेव—मैं अपना स्वामी । भगवान् ने मुझे अवसर दिया है कि शैव साम्राज्य की स्थापना करूँ।

पाशुपत—(**खिलखिलाकर हँसते हुए**) ऊपर दीवार में देखने लगते हैं।

सुदेव—क्या देख रहे हैं गुरुवर, ओह छिपकली कितनी अधीरता से इस, दीवार पर घूम रही है।

पाशुपत—देखो !

सुदेव—देख रहा हूँ गुरुदेव !

पाशुपत—अभी एक नर छिपकली आने वाली है. उसी के लिए अधीर है।

सुदेव—कहाँ से ! **(आश्चर्य में भरकर)**

पाशुपत—पुष्पोपहारों के साथ सुदूर प्रान्त से भगवान् के लिए कमलों का उपहार आ रहा है।

सुदेव—गुरुदेव ! आप···

[**एक आवाज। जय हो गुरुदेव !**]

पाशुपत—नमः शिवाय, नमः शिवाय। भासुर, देखो कौन है ?

भासुर—गुरुदेव ! (**बाहर जाता है**)

पाशुपत—मनुष्य कितना तुच्छ है सुदेव, वह बहुत कुछ जानना चाहता है, करना चाहता है, पर कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं कर सकता।

भासुर—(**टोकरी लिये आते हुए**) गुरुदेव, बल्लभीपुर के महाराज ने निर्मल नील कमलों की यह टोकरी भगवान् पर चढ़ाने के लिए भेजी है।

पाशुपत—वल्लभीपुर के महाराज ने, यहाँ रख दो, खोलकर अर्चना-गृह में ले जाओ। (**खोलता है**)

भासुर—(**चौंककर**) छिपकली नील-कमल में!

सुदेव—(**चौंककर**) छिपकली !

पाशुपत—(**हँसकर**) यही नर छिपकली है, जिसके लिए दीवार की छिपकली अधीर थी, किन्तु अभी और शेष है···

सुदेव—क्या गुरुदेव ?

पाशुपत—बहुत दिनों का भूखा भगवान् का नाग इनकी प्रतीक्षा कर रहा है।

सुदेव—कहाँ ?

पाशुपत—वह नीचे कोने में। वह ऊपर को लपका और वे दोनों···

सुदेव—गुरुदेव !

पाशुपत—मनुष्य कुछ नहीं जानता राजन् !

सुदेव—अपराध क्षमा हो।

पाशुपत—वत्स, नम्र होने पर ही लहलहाते वृक्ष अच्छे लगते हैं।

सुदेव—किन्तु राजनीति में दया निर्बलता का दूसरा नाम है। भाग्य पर विश्वास निष्क्रियता है। धर्म राजा की सीमा का बन्धन है जिसमें

उसका पराक्रम अपने भीतर की दीनता के संघर्ष में जल जाता है गुरुदेव!

पाशुपत—किन्तु मनुष्य राजा से भी बड़ा है सुदेव। देवता होने के लिए मनुष्य बनना आवश्यक है।

सुदेव—मैं त्रिकालज्ञ नहीं होना चाहता। भगवान् ने जो काम मुझे सौंपा है, वही पूरा करना चाहता हूँ, विजयार्क का वध···शेष साम्राज्य का विस्तार।

पाशुपत—(**हँसकर**) तुम स्वतन्त्र हो।

सुदेव—उद्दण्ड विजयार्क के वध द्वारा ही श्रवण की प्रजा सुखी रह सकेगी। भगवान् की प्रतिष्ठा के लिए प्रभास का सूर्य चमकना ही चाहिए।

[**एक व्यक्ति हड़बड़ाता हुआ आता है**]

भासुर—गुरुदेव, गुरुदेव, रक्षा करो।

सुदेव—(**चौंककर**) क्या हुआ?

भासुर—श्रवण की प्रजा विद्रोही हो उठी, उसने हमारे सब सैनिकों को मारकर भगा दिया।

सुदेव—कैसे? (**खड़े होकर**)

भासुर—विजयार्क के छोटे भाई जयार्क ने सैन्य संगठन करके कल रात अचानक द्वीप पर आक्रमण कर दिया। सारे वीर पुरुष मार दिये। कुछ भाग गये, शेष बन्दी कर लिये गये। वही सेना बड़े दल-बल के साथ प्रभास की ओर आ रही है।

सुदेव—इतना सब हो गया और, और मुझे समाचार भी नहीं मिला।

[**दूसरे व्यक्ति का प्रवेश**]

व्यक्ति—महाराज, श्रवण की सेना ने जलयानों से प्रभास के तटों को घेर लिया है।

सुदेव—मुझे आज्ञा दीजिये। (**युद्ध का कोलाहल बढ़ता है**)

पाशुपत—नमः शिवाय, नमः शिवाय, जाओ वत्स! (**सुदेव तथा**

भासुर जाते हैं। खड़े होकर) मनुष्य कितना लघु प्राणी है और उसका दर्प कितना बड़ा है, कदाचित् वह अपने दर्प के शिखर को दबा सकता। (**युद्ध के नगाड़े बजते हैं। तीरों की सनसनाहट, कई भाले चलने की आवाज**) युद्ध का कोलाहल बढ़ता है, बढ़ता ही रहता है। (**हँसकर**) शैव साम्राज्य का विस्तार, अपनी दबी हुई लालसा का विस्तार। नमः शिवाय, नमः शिवाय !

[**पाशुपत खड़ाऊँ पहने घूमते हैं**]

पाशुपत—(**घूमते हुए**) मनुष्य के अभिमान का इतनी जल्दी उत्तर मिलेगा, इतने शीघ्र। कदाचित् जो कुछ उसके हाथ में नहीं है उसे भी वह पा लेना चाहता है। (**हँसकर**) हा हा हा हा तुम्हारी माया देव ! सब तुम्हारी ही माया है !

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे !
सद सत्वेन भावानां शम्भोर्हि द्वितयी स्थितिः।
तामुल्लंध्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे।
आरून्नाय सुदूराय गुप्ताय प्रकटात्मने।
सुलभायातिदुर्गाय नमश्चित्राय शम्भवे !!

जय शम्भो, नमः शिवाय, नमः शिवाय, इस स्तम्भ दीप के समान तुम्हारे ज्योतिर्लिंग का प्रकाश विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है देवाधिदेव ! अरे, तुम !

पहला—गुरुदेव, मैं तो अभी-अभी आया, आज बड़ी विलक्षण बात हुई।

पाशुपत—(**जैसे सब जानते हैं**) क्या हुआ ?

पहला—ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, कभी नहीं देखा था। विचित्र ! परम विचित्र !

पाशुपत—(**हंसकर**) भगवान् के निकट असम्भव, विचित्र कुछ भी नहीं है, फिर भी कहो न।

भक्त—मैं जब मन्दिर के गर्भ में निशीथ-पूजन के लिए घुसा तो क्या देखता हूँ, क्या देखता हूँ कि दो किन्नरियां भक्ति-मग्न होकर नृत्य कर रही हैं।

पाशुपत—असम्भव कुछ भी नहीं है वत्स !

भक्त—नहीं महाराज, पिछले बारह वर्ष से मैं लगातार निशीथ-पूजन करता आ रहा हूँ। रात्रि में मेरे या भगवान् के अतिरिक्त मन्दिर में कभी कोई नहीं रहता। किन्तु आज तो वे देवियां, हमारी देव-दासियां नहीं, कोई और ही थीं, उनमें से एक का रूप बिजली की तरह प्रकाशमान, ऊषा की तरह स्निग्ध था। मुझे लग रहा है जैसे वह कल्पना थी, वह एक स्वप्न था।

पाशुपत—यह सृष्टि के बारह ज्योतिर्लिंगों में प्रसिद्ध और प्रमुख ज्योतिर्लिंग है वत्स, यहाँ पर स्वर्ग के देवता और गन्धर्व, अप्सराएं और किन्नरियां भी देव-दर्शन के लिए आते हैं, हो सकता है वे ही हों !

भक्त—(**सोचता हुआ**) हो सकता है गुरुदेव ! किन्तु वे अप्सराएं नहीं थीं, इतना निश्चित है। आकृति उनकी मानुषी ही थी। फिर भी जब भक्ति से गद्‌गद् होकर वे प्रार्थना करने लगीं तब उनकी वाणी मानुषी ही थी, बोली इसी देश की, भावाकृति स्त्रियों की और निश्छलता कन्याओं की।

पाशुपत—हूँ ?

भक्त—इतना सुन्दर नृत्य, इतनी पुलकित कर देने वाली प्रार्थना, साक्षात् लक्ष्मी के समान मुख-छवि ! तभी से मैं विस्मित हूँ। आप त्रिकालज्ञ हैं भगवन् !

पाशुपत—मैं कुछ भी नहीं हूँ वत्स, मैं देव का एक तुच्छातितुच्छ दास हूँ। तुम ठीक कहते हो, वे अप्सराएं नहीं, भूमि-कन्यायें ही हैं, दुख की मारी, राज्य-भ्रष्ट और अत्याचार-पीड़ित श्रवण द्वीप की कन्यायें।

भक्त—हां गुरुवर, प्रार्थना करते एकदम न जाने कैसा कोलाहल हुआ तो एक बोली—"देवाधिदेव ! हमारा उद्धार करो, हमारी रक्षा करो !"

उसी समय दूसरी ने कहा—"भगवान् ने तुम्हारी प्रार्थना सुन ली है। सुनो, श्रवण से प्रभास पर आक्रमण के लिए सेनाएं आ गई हैं। यह उन्हीं का गर्जन है।" वे एक दम अन्तर्धान हो गईं। मैं यह सब कुछ भी नहीं समझ पाया। तभी से मैं चिन्तित हूँ, विस्मित हूँ, चकित हूँ। आज पूजन में भी मन नहीं लगा। मैंने सोचा—यह सब आपसे निवेदन करूँ।

पाशुपत—मनुष्य कुछ सोचता है विधाता कुछ और। इसमें भी कल्याण दिखाई देता है।

भक्त—आपकी वाणी सत्य हो भगवन्! हमारे महाराज महान् और सोमनाथ भगवान् के उपासक हैं।

पाशुपत—मनुष्य कितना दुर्बल प्राणी है!

[नेपथ्य में कोलाहल बढ़ता है। युद्ध का गर्जन, चिल्लाहट, ललकारें सुनाई देती हैं। चीत्कार और कोलाहल से आकाश गूंज उठता है। मारो, काटो, बढ़े चलो, बढ़ो, यही समय है। की भयंकर ध्वनि बढ़ती जाती है। दरवाजों के टूटने, खुलने, लोगों के भागने-गिरने-उठने के स्वर सुनाई देते हैं। कुछ देर तक यही होता रहता है, उसी समय एक स्त्री का ऊँचा स्वर सुनाई देता है।]

स्त्री—सैनिको, यह युद्ध केवल प्रभास के नृपति सुदेव से है। प्रभास के नागरिकों, ब्राह्मणों, युवकों और स्त्रियों से कुछ भी न कहा जाय। नगर में किसी को भी कष्ट न दिया जाय। किसी के साथ दुर्व्यवहार न हो। किसी को भी पीड़ा न पहुँचाई जाय। हमारा युद्ध केवल सुदेव से है, केवल सुदेव से। सावधान, किसी को कष्ट न हो।

कुछ आवाजें—अवश्य, अवश्य। हम अपने महाराज विजयार्क का बदला सुदेव से लेंगे। सुदेव ने हमारे द्वीप को विध्वस्त किया है, सुदेव बन्दी है, कल सूर्योदय के साथ इसका निर्णय होगा।

भक्त—कदाचित् यही स्त्री थी, ऐसा ही उसका स्वर था गुरुदेव!

पाशुपत—जाओ, आज तुम से पूजन न हो सकेगा। जाओ भक्त, जाओ!

भक्त—जो आज्ञा गुरुदेव !

[चले जाते हैं। पर्दा गिरता है। बन्दी सुदेव और सौदामिनी। रात्रि का समय। समुद्र का गर्जन दूर से सुनाई दे रहा है। नगर में कोलाहल की ध्वनि।]

सुदेव—(**गर्व से**) मुझे यहाँ क्यों लाया गया है ? बन्दीगृह दूर नहीं है।

सौदामिनी—अबला का पराक्रम दिखाने के लिए। जिसे आपने बन्दी किया था।

सुदेव—यह मेरे दुर्भाग्य का पराक्रम है तुम्हारा नहीं।

सौदामिनी—अपने गर्व की पराजय नहीं मानते ?

सुदेव—गर्व पराजित होना नहीं जानता। यदि वह अन्तस्थ हो, वास्तविक हो।

सौदामिनी—आपको स्मरण है आपने एक बार मेरे प्राणों की रक्षा की थी।

सुदेव—ऐसी छोटी बातें याद रखने का मेरा स्वभाव नहीं है।

सौदामिनी—अभिमान की गति सदा ऊपर से नीचे को होती रहती है। जब कि नम्रता नीचे से ऊपर को जाती है महाराज !

सुदेव—तुम महाराज कहकर मेरा अपमान मत करो। मुझे बन्दी-गृह में डाल दो। मेरे वध की आज्ञा दो। बस !

सौदामिनी—उसका निर्णय पिता करेंगे।

सुदेव—तो तुमने मुझे क्यों रोक रखा है ?

सौदामिनी—क्यों ! आप केवल राजा ही हैं मनुष्य नहीं।

सुदेव—मनुष्य से ऊपर !

सौदामिनी—यानी उसे तिलांजलि देकर।

सुदेव—तुम क्या कहना चाहती हो मैं नहीं जानता। मुझे मालूम है तुम्हारे पिता विजयी होकर मेरा वध करेंगे। मुझे इसका कोई दुख नहीं है।

सौदामिनी—महाराज सुदेव ! मैं केवल सैनिक सौदामिनी नहीं हूं। मैं स्त्री हूं।

सुदेव—किन्तु मैं जो हूँ वही रहकर मरना चाहता हूं।

सौदामिनी—आपको याद है वह दिन···

सुदेव—उस दिन को बीते बहुत समय हो गया। वह सब व्यर्थ है। उसको याद करने से कोई लाभ नहीं।

सौदामिनी—किन्तु मैं राजा को भी मनुष्य मानती हूं। उसके भी हृदय होता है। वह भी मनुष्यता का सच्चा उपासक होता है। उसका बल निर्बल की रक्षा के लिए है दूसरों को पीड़ा देने के लिए नहीं। यदि आपके श्रवण से अच्छे सम्बन्ध होते तो···(**नगर में कोहाहल सुनाई देता है**)

सुदेव—मालूम है मेरी प्रजा पर अत्याचार हो रहे हैं पर आज मैं तुम्हारा बन्दी हूँ। (**सोचता है**)

सौदामिनी—क्या सोच रहे हैं महाराज ?

सुदेव—वह, जिससे अब कोई लाभ नहीं है।

सौदामिनी—(**हँसकर**) लाभ न होने पर भी सोच रहे हैं। मैं जानती हूँ बुराई मनुष्य का स्वभाव नहीं है। वह कृत्रिम है महाराज !

सुदेव—जैसे आज मैं कृत्रिम महाराज हो गया हूं। जैसे सब स्वप्न हो गया है। तुम सच कहती हो गर्व अपने परिणाम में ऊपर से नीचे को चलता है। आज मेरी प्रजा दुखी है। सब ध्वंस हो गया है। मेरी आकांक्षा के महल की नींव हिल गई है।

सौदामिनी—इसका कारण शायद दूर नहीं है।

सुदेव—मेरा अपमान मत करो सौदामिनी ! मेरे हृदय में द्वन्द्व हो रहा है।

सौदामिनी—(**ताली बजाकर**) महाराज को बन्दी-गृह में ले जाओ सैनिक, कल इनका निर्णय होगा। ले जाओ, जाइये।

सैनिक—जो आज्ञा ! चलिये।

सौदामिनी—क्या सोच रहे हैं ?

सुदेव—सोच रहा हूँ मनुष्य का अन्त क्या इतना अस्थिर है ? तुम तो नारी हो।

सौदामिनी—यह आपके उपयुक्त नहीं है। अभिमान की नींव पर लालसा, महत्त्वाकांक्षा का स्वप्न-महल खड़ा करने के प्रयत्न में जो विवेक की भूख का तिरस्कार कर देता है उसके मुख से पुरुष और नारी का नाम सुनकर हँसी आती है। लगता है जैसे यह उसका अपना रूप नहीं है।

सुदेव—मद यदि चढ़ता है तो उतरता भी तो है। वही मैं आज पा रहा हूं अपने में।

सौदामिनी—तो आज आपकी आँखें खुली हैं। यह मेरा सौभाग्य है।

सुदेव—और मेरा दुर्भाग्य।

सौदामिनी—रह-रह कर जैसे आपको कोई टीस उठती है।

सुदेव—रह-रह कर जैसे कोई मुझे तमाचे मारकर गिरा रहा है। यह ठीक ही हुआ कि मरने से पूर्व मैं अपनी वास्तविकता को जान सका।

सौदामिनी—मैं आपको छोड़ सकती हूं। जाइये, चले जाइये।

सुदेव—सुदेव ने सब कुछ सीखा है पर कायरता नहीं सीखी।

सौदामिनी—तो मैं आपके सामने निरस्त्र खड़ी हूँ। मुझ से बदला लीजिये।

सुदेव—देखता हूं तुम्हारी स्वाभाविक आँखों का दर्शन भी कम घातक नहीं है सौदामिनी !

सौदामिनी—**(आह भरकर)** इन शस्त्रों का अन्त मधुरता के आकर्षण में समाप्त होता है महाराज ?

सुदेव—किन्तु अब हम एक दूसरे के शत्रु हैं। चलो सैनिक, ले चलो मुझे !

[सैनिक के साथ चले जाते हैं। सौदामिनी मूक खड़ी देखती रहती है। उसकी आँखें में आँसू टपकने लगते हैं। राजमार्ग में बहुत से लोगों की

उपस्थिति के स्वर। दूर घण्टे-घड़ियाल, नगाड़े स्तुति के स्वर सुन पड़ते हैं। धीरे-धीरे बन्द होते हैं। एक ओर से सुनयना और दूसरी ओर से सौदामिनी आती है।]

सुनयना—मैं तुम्हें ही खोजती फिर रही हूँ सौदामिनी। कहाँ थी अब तक ? रात के दूसरे प्रहर से तुम्हारा कुछ भी पता नहीं लग रहा है।

सौदामिनी—हाँ सुनयना, प्रभास पर आक्रमण के बाद से लगातार घूमना पड़ रहा है। मैंने सब खास-खास जगहों पर सैनिकों का पहरा बैठा दिया है। दुर्ग के प्राचीर, बड़े-बड़े द्वार, सैनिक अड्डे सभी जगह हमारी सेनाएं नियुक्त हैं। राजा सुदेव की सेना बन्दी कर ली गई है।

सुनयना—तुम्हारा ही काम था कि प्रभास पर श्रवण का झण्डा लहराने लगा। भला महाराज कहां हैं ?

सौदामिनी—(**उसी धुन में**) घायलों की चिकित्सा का प्रबन्ध कर दिया गया है। जो लोग मारे गये है उनके शवों की व्यवस्था कर दी है। (**अपनी धुन में** अभी···हां अभी।

सुनयना—महाराज कहां हैं, तुम्हारे पिता ? क्या उन्हें बन्दी-गृह से छुड़ा लिया गया है ?

सौदामिनी—सुदेव बहुत चतुर राजा हैं। यह हार-जीत भी समुद्र की लहरों की तरह है जो हवा के साथ बदलती रहती है। एक बार तो हम हार ही चले थे कि मैंने उस अँधेरे में सधे हुए सैनिकों को उत्साहित करते हुए भयंकर धावा बोल दिया। उसमें सुदेव के हाथ-पैर फूल गये। इसी बीच मैंने उन्हें बन्दी कर लिया। सैनिक बिखरकर भाग गये।

सुनयना—तो तुम युद्ध-भूमि में भी गई थीं। तुम्हारा यह रूप बिल्कुल नया है सखी ! महाराज कहां हैं ?

सौदामिनी—बहुत दिनों बाद शस्त्र उठाये। बहुत दिनों बाद लड़ना पड़ा अनचाहे भी। (**हँसकर**) पिता बन्दी-गृह में ऊँघ रहे थे। मैंने उन्हें जगाया तो घबड़ाकर बोले, 'क्या सायंकाल की बजाय प्रातःकाल ही

मेरा वध होगा। कुछ बात नहीं। मैं मरने से नहीं डरता, चलो।' जब मैंने कहा कि प्रभास पर श्रवण का अधिकार हो गया है और इसके साथ ही सारी परिस्थिति समझाई तो प्रसन्नता से उनका मुख खिल उठा। फिर वे एकदम चुप हो गये। धीरे-धीरे उनकी आंखों से आँसू टपकने लगे। जैसे भगवान् सोमनाथ की प्रार्थना से विभोर हो उठे हों। बोले वे कुछ भी नहीं। इसी समय सुदेव को पिता के स्थान पर बन्दी कराके हम लौट आये।

सुनयना—सुदेव उसी जगह बन्दी हुए। तुमने उन्हें देखा···

सौदामिनी—सुदेव मुझे देखते ही विस्मित हो गये। बोले, मुझे बन्दी कर लो सौदामिनी। इसके बाद काका जयार्क ने उन्हें बन्दी-गृह में डाल दिया और बाहर से द्वार बन्द कर दिये। उन्हें भीतर धकेल दिया सुनयना, जैसे पशु को बाड़े में बन्द कर दिया जाता है।

सुनयना—और तुम देखती रहीं···

सौदामिनी—हां, पर···

सुनयना—पर क्या, तुम्हें अच्छा नहीं लगा ?

सौदामिनी—चुप ?

सुनयना—बोलो सखी !

सौदामिनी—क्या बोलूँ, क्या कहूँ ? **(आह भरती है)**

सुनयना—यदि तुम चाहो तो···

सौदामिनी— **(उत्तेजित होकर)** मैं कुछ नहीं चाहती, मैं कुछ नहीं समझती। न जाने मुझे कैसा लग रहा है ? **(सुनयना से लिपटकर)** मुझे कुछ नहीं सूझता सुनयना ? तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ?

सुनयना—मैं जानती हूँ। मैं जानती हूं पर अब क्या हो सकता है ? पिता विजयार्क···

सौदामिनी—पिता तभी से गुम-सुम हैं। वे मुक्त होने के बाद सीधे सोमनाथ के मन्दिर में चले गये। तब से वहीं हैं। मैं उन्हें गुरुदेव के पास छोड़ आई हूं।

सुनयना—और काका जयार्क ?

सौदामिनी—वे भी उन्हीं के पास हैं। उनका कहना है कि जिस स्थान पर सुदेव आपका वध करना चाहता था उसी स्थान पर, उसी समय सुदेव को फांसी पर चढ़ाया जाय।

सुनयना—फिर ?

सौदामिनी—तभी से मैं पागल-सी हो गई हूं।

सुनयना—नन्दिनी !

सौदामिनी—नन्दिनी उसी जगह बन्दी है जहां हम लोग बन्दी किये गये थे। अब वह चुप है। मुझे देखते ही उसने पीठ फेर ली।

सुनयना—तो तुम ने कुछ कहा।

सौदामिनी—क्या कहती ?

सुनयना—अब प्रभास पर महाराज विजयार्क का राज्य हो जायेगा। और सुदेव···

सौदामिनी—(**तेज़ी से**) सुनयना, काश कोई मेरे मन की बात समझ सकता। राजनीति ने प्रेम को दबा लिया है। शायद इसके आंखें नहीं होतीं।

सुनयना—इसके मन भी नहीं होता। यह निर्दय है, निर्जीव है।

सौदामिनी—क्या कोई उपाय नहीं है ?

सुनयना—यह दो देशों की शत्रुता का प्रश्न है। दो राज्यों के वैर का बदला है। दो राजाओं की आकांक्षा, लालसा, वैभव की लड़ाई है, देखें कौन जीतता है ?

सौदामिनी—(**फीकी हँसी हँसकर**) राजनीति की रानी या मैं। आज बहुत दुखी हूँ। जीतकर भी भीतर-ही-भीतर कैसे हार रही हूं सुनयना !

सुनयना—महाराज को यह मालूम है कि राजा सुदेव ने तुम्हारे प्राण बचाए हैं।

सौदामिनी—जाने उन्हें मालूम है या नहीं! जाने, सखी क्या होगा ?

सुनयना—धीरज धरो। गुरुदेव तुम्हारी सहायता करेंगे। वे

त्रिकालज्ञ हैं।

सौदामिनी—सुनो, हमारे सैनिकों का जय-घोष सुनाई दे रहा है। शायद राजा का निर्णय होगा। मैं जाती हूँ पिता मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

[दृश्य-परिवर्तन]

जयार्क—यही वध-स्थल है। सुदेव को दण्ड देने का समय हो रहा है। महाराज विजयार्क अभी नहीं आये।

सैनिक—जयार्क, महाराज विजयार्क भगवान् के दर्शन करने गये हैं। आते ही होंगे। पूजन शायद समाप्त हो रहा है।

जयार्क—सुदेव को वध-स्थल में ले आओ, जिससे उसके आने और भाई विजयार्क को निर्णय करने में विलम्ब न हो। अपराधी को उस समय उपस्थित रहना चाहिए।

सैनिक—बन्दी उपस्थित है, वह अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है।

[कोलाहल—आ गये आ गये, जय हो ! विजयार्क की जय हो ! श्रवण-नरेश की जय हो !]

[विजयार्क का प्रवेश]

विजयार्क—(**कड़कती हुई आवाज़ में**) भाइयो ! यह भाग्य का खेल है कि प्रभास के राजा सुदेव के हाथों आज मेरा यहां वध किया जा रहा था...(**रुककर**) किन्तु देव का विधान कि मारने वालों के भाग्य का निर्णय मरने वालों के हाथ में आ गया जो विजयार्क कल तक प्रभास की अँधेरी कोठरी में पड़ा अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था, आज सुदेव उस कोठरी में बन्द कर दिये गये।

आवाजें—सुदेव अत्याचारी है !

विजयार्क—हाँ, सुदेव अत्याचारी हैं, उन्होंने श्रवण द्वीप की निरीह प्रजा पर बिना कारण अत्याचार किया। और केवल अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए श्रवण पर आक्रमण किया, और मुझे बन्दी कर लिया, मेरी कन्या का अपहरण किया, आज मेरे वध का दिन था। यही तो वध-स्थल है न।

आवाजें—जी, सुदेव का वध होना चाहिए। वह पापी है, वह दण्ड

के योग्य है।

विजयार्क—हाँ, वह पापी है, उसने निरीह प्राणियों की केवल अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए हत्या की। इस युद्ध में सहस्रों प्राणी मारे गये। मैं उनको दण्ड दूँगा। वह पापी हैं, वह हत्यारे हैं, राजा का काम न्याय करना है, उन्होंने अन्याय किया है, वह राजा नहीं हैं। बोलो सुदेव, तुम्हें कुछ कहना है ?

सुदेव—मैं कुछ नहीं कहना चाहता।

विजयार्क—ठीक है, तुम कुछ नहीं कहना चाहते। इसका अर्थ यह है कि संसार के लोगों को कभी सुख की नींद न सोने दिया जाय। संसार में सदा हत्याकाण्ड मचता रहे, मनुष्य सदा एक दूसरे के गले काटते रहें। भगवान् के निर्मित इन प्राणियों का निरन्तर संहार होता रहे, क्यों ?

सुदेव—मुझे कुछ भी नहीं कहना है, जो कुछ तुम्हें दण्ड देना हो दो।

विजयार्क—मैं अवश्य दण्ड दूँगा। और किसी को कुछ कहना है।

पहली आवाज—सुदेव अपराधी है।

दूसरी आवाज—वह शान्ति-विध्वंसक है।

तीसरी आवाज—उसने गुरुदेव पाशुपत की आज्ञा का तिरस्कार किया है।

पहली आवाज—वह दण्ड-योग्य है।

दूसरी आवाज—वह वध के योग्य है, उसका वध होना चाहिए।

तीसरी आवाज—हां हां !

पहली आवाज—अवश्य ! अवश्य !

दूसरी आवाज—अवश्य ! अवश्य !

तीसरी आवाज—देर न कीजिये।

[**'ठहरो ठहरो, मुझे भी कुछ कहना है' कहती हुई एक स्त्री बढ़ आती है।**]

स्त्री—हटो, हटो।

विजयार्क—तुम कौन हो?

स्त्री—मैं महाराज सुदेव की पत्नी हूँ, मेरा वध करो, मुझे दण्ड दो।

सुदेव—(**कड़ककर**) तुम्हें किसने बुलाया महारानी? तुम जाओ।

स्त्री—नहीं, मैं आपसे पहले मरूँगी।

सुदेव—नहीं नहीं, तुम जाओ, अपने पिता के घर चली जाओ, मैं ही दण्ड भोगूँगा, मुझे मरने दो, जाओ नन्दिनी।

नन्दिनी—आप से पहले मेरा अधिकार है, पहले मैं मरूँगी।

विजयार्क—मैं दोनों को दण्ड दूँगा। तुमने (**नन्दिनी से**) सौदामिनी और उसकी सखी को पीटा था, उसे अपमानित किया था।

[**घृणा-विद्रोह के भाव उभरते हैं। कानाफूँसी, नहीं, नहीं।**]

पहला—(**धीरे से**) फिर भी एक स्त्री को दण्ड देना बुरी बात है।

दूसरा—अभिमानिनी है।

तीसरा—घोर पाप, स्त्री को दण्ड नहीं दिया जाता।

विजयार्क—(**कड़ककर**) चुप रहो, जो पति का अनुगमन करना चाहती है, उसे अधिकार है, उसे कोई नहीं रोक सकता। मैं प्रभास के नृपति सुदेव को दण्ड देता हूँ ' और किसी को कुछ कहना है?

[**चुप्पी**]

मालूम होता है किसी को भी सुदेव को दण्ड देने में आपत्ति नहीं है। जयार्क, तुम्हें कुछ कहना है, क्योंकि तुमने ही हमारे प्राण बचाये हैं।

जयार्क—मैं भी सुदेव को ड दंड देने के पक्ष में हूँ।

विजयार्क—मैं दण्ड दूँगा, क्योंकि मैं इस समय न्याय के सिंहासन पर हूँ, भगवान् ने मुझे। न्याय करने का अवसर दिया है मैं न्याय करूँगा, किन्तु महाराज सुदेव, क्या आप कह सकते हैं हमने कभी आपका अहित किया, फिर आपने क्यों इस छोटे से द्वीप पर, जहाँ के लोग प्राचीन काल से सुख-शान्ति से रहते आ रहे थे, आक्रमण किया। आपके साथ

हमारा सदा से सद्भाव बना चला आ रहा था। मैं एक बार आपको दण्ड देने से पूर्व सफाई देने के लिए कहूँगा, क्योंकि मैं इस समय न्याय-सिंहासन पर हूँ।

सुदेव—(अपने ध्यान में मग्न किन्तु जागता-सा) मैं साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। साम्राज्य-विस्तार के लिए जो और नृपति करते आ रहे हैं वही मैंने किया था…

विजयार्क—दूसरों के रुधिर पर निरीह प्राणियों की हत्या करके साम्राज्य-विस्तार करना चाहते थे आप, शान्ति भंग करके दूसरों का राज्य छीनकर साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे आप। मैं पूछता हूँ राजा रक्षक है या भक्षक ?

सुदेव—(चुप)

विजयार्क—(हँसकर) आज आप चुप हैं। हम भी शिवोपासक हैं सुदेव! क्या शिव के भक्तों की हत्या करके आप साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे ?

सुदेव—(चुप)

विजयार्क—मनुष्य बड़ा निर्बल प्राणी है, कभी-कभी अच्छे व्यक्ति भी बुरा काम करने लगते हैं, उस समय उनके मन की निर्बलता उन पर छा जाती है। सुदेव उसी प्रकार के अपराधी हैं, मैं उनको दण्ड दूँगा या मृत्यु-दंड।

सौदामिनी—महाराज!

विजयार्क—हाँ! कहो सौदामिनी, तुम्हें क्या कहना है ?

सौदामिनी—महाराज! आप राजा होने की अपेक्षा पिता भी हैं, यही मैं कहना चाहती हूँ।

विजयार्क—(सोचते हुए) मैं पिता भी हूँ! मैं पिता भी हूँ। किन्तु मैं इस समय न्याय-सिंहासन पर हूँ। कल तक दंड-व्यवस्था सुदेव के हाथ में थी, इन्होंने मेरे वध करने की आज्ञा दी थी। किन्तु पश्चात्ताप सबसे बड़ा दंड है। मैं तुम्हें निरन्तर पश्चात्ताप करने का दण्ड देता हूँ। तुमने

मेरी इस कन्या के एक बार प्राण बचाये थे। नहीं! नहीं! श्रवण की एक प्रजा के, यह भी मुझे मालूम है। (**उठकर**) इसीलिए यह कन्या, श्रवण की एक प्रजा और विजयार्क की पुत्री को, मैं तुम्हें सौंपता हूँ। सौदामिनी मेरे हृदय का आलोक है, उसे मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ। सुदेव, लो इसे ग्रहण करो। (**कन्या का हाथ पकड़कर सुदेव के हाथ में देता है**) इसे ग्रहण करो नन्दिनी, तुम्हें इतना ही दंड देता हूँ कि तुम इसे अपनी छोटी बहन मानो। साम्राज्य की लिप्सा राजा के लिए एक पाप है। इसमें असंख्यों प्राणियों की हत्या होती है, फिर भी यह स्थिर नहीं रह पाता। तुम आजीवन साम्राज्य की ुराई पर विचार करते रहो, यही तुम्हारा दण्ड है। तुम्हारी बुराइयों का दण्ड। तुम्हारे प्रायश्चित्त की प्रेरणा का स्रोत यह सौदामिनी है, इसे ग्रहण करो सुदेव!

सुदेव—तुम इतने महान् हो विजयार्क!

नन्दिनी—पिता विजयार्क!

[**पाशुपत का प्रवेश**]

पाशुपत—सुदेव! देखा शिव-भक्त विजयार्क को।

विजयार्क—आइये गुरुदेव! प्रणाम करता हूँ। आपने मेरा निर्णय सुना।

पाशुपत—मैं तुम्हें बधाई देता हूँ वत्स! नमः शिवाय, नमः शिवाय।

विजयार्क—जयार्क भाई, आज से श्रवण द्वीप के अधिकारी तुम हो!

य—महाराज!

विजयार्क—नहीं, तुम ही श्रवण के राजा हो। गुरुदेव, मुझे दीक्षा दीजिये। मैं संन्यास लेना चाहता हूँ।

पाशुपत—आओ वत्स, यही जीवन का परम साध्य है। नमः शिवाय, नमः शिवाय। सोमनाथ भगवान् का यही आदेश है। चलो वत्से! पति की अनुगामिनी बनो।

सुदेव—राजा का यह भी एक रूप है! यह मैंने आज ही जाना।

पाशुपत—राजा होने से पूर्व प्राणी मनुष्य है, जिसमें अनन्त गुणों का भण्डार है। मनुष्य बनो सुदेव।

सुदेव—सौदामिनी, आओ, पिता विजयार्क और गुरुदेव को प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लें।

[समाप्त]